दक्षीकार्य्या इति । ते च संक्षेपतः परिगण्यन्ते । रुद्रयामलादयस्तन्त्रग्रन्थाः । ब्रह्मवैवर्त्तादीनि पुराणानि च । प्रक्षिप्तश्लोकत्यागाया मनुस्मृतेर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः । सारस्वतचन्द्रिकाकौमुद्यादयो व्याकरणाभासग्रन्थाः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वादयो ग्रन्थाः । वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीश्यन्तान्यायाभाषा ग्रन्थाः । योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयो ग्रन्थाः । सांख्यशास्त्रविरुद्धा सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः । वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसारपञ्चदशीयोगवासिष्ठादयो ग्रन्थाः । ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा मुहूर्त्तचिन्तामण्यादयो मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायका ग्रन्थाः । तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धास्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः । मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजलसेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजड़मूर्त्तिपूजाकरणमन्त्रेणैव मुक्तिभावनपापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे ग्रन्थाः । तथैव पाखण्डिसम्प्रदायिनिर्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च, नास्तिकत्वविधायका ग्रन्थाश्चोपदेशाश्च । ते सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या भवन्ति ।

भाषार्थ

इन ग्रन्थों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना सुनना और पढ़ना सब को उचित है । इनसे भिन्नों का नहीं । क्योंकि जितने ग्रन्थ पक्षपाती क्षुद्रबुद्धि कम विद्या वाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ से विरुद्ध और युक्तिप्रमाणरहित हैं उन को स्वीकार करना योग्य नहीं । आगे उन में से मुख्य २ मिथ्या ग्रन्थों के नाम भी लिखते हैं । जैसे रुद्रयामल आदि तन्त्रग्रन्थ, ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवत आदि पुराण । सूर्य्यगाथा आदि उपपुराण । मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृतिग्रन्थ । व्याकरणविरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रन्थ । धर्मशास्त्रविरुद्ध निर्णयसिन्धु आदि । तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रन्थ । हठदीपिका आदि ग्रन्थ जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं । तथा सांख्यशास्त्रविरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रन्थ । वेदान्तशास्त्रविरुद्ध वेदान्तसार पञ्चदशी योगवासिष्ठादि ग्रन्थ । ज्योतिषशास्त्र से विरुद्ध मुहूर्त्तचिन्तामण्यादि मुहूर्त्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक । ऐसे ही श्रौतसूत्रादिविरुद्ध त्रिकण्डिकास्नानविधायकादि सूत्र । तथा मार्गशीर्ष एकादश्यादिव्रत, काश्यादि स्थल, पुष्कर गङ्गादि जल, यात्रामाहात्म्यविधायक पुस्तक तथा दर्शन नामस्मरण जड़मूर्त्तिपूजा करने से मुक्तिविधायक ग्रन्थ ।

इसी प्रकार पापनिवारणविधायक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूतप्रतिपादक वेदविरुद्ध शैव शाक्त गाणपत वैष्णवादि मत के ग्रन्थ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन के उपदेश ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रन्थ हैं। इसलिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रन्थ त्याग कर देने योग्य हैं।

प्र०—तेषु बह्वनृतभाषणेषु किंचित्सत्यमप्यग्राह्यम्भवितुमर्हति विषयुक्तान्नवत्। उ०—यथा परीक्षका विषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति तद्वदप्रमाणा ग्रन्थास्त्याज्या एव। कुतः। तेषां प्रचारेण वेदानां सत्यार्थाप्रवृत्ते,स्तदप्रवृत्त्या ह्यसत्यार्थान्धकारापत्ते,रविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञानानुत्पत्तेश्चेति। अथ तन्त्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते। तत्र पञ्चमकारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति, नान्यथेति। तेषां मतं यत्रेमे श्लोकाः सन्ति। मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च। एते पञ्चमकाराश्च मोक्षदा हि युगे युगे ॥ १ ॥ पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ २ प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजातयः। निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥ मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु। लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य जपेन्मन्त्रमतन्द्रितः ॥ ४ ॥ मातरमपि न त्यजेत्। इत्याद्यनेकविधमल्पयुद्ध्यधर्माश्रेयस्कर्मानार्याभिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्योऽत्यन्तविरुद्धमनार्षमश्लीलमुक्तं, तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति। मद्यादिसेवनेन बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते, किन्तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत् सुगमं प्रसिद्धं च। एवमेव ब्रह्मवैवर्त्तादिषु मिथ्यापुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः प्रदर्श्यन्ते। तत्रैवमेका कथा लिखिता प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जग्राहेति। सा मिथ्यैवास्ति। कुतः। अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात्। तद्यथा—

भाषार्थ

कदाचित् इन ग्रन्थों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन असत्य ग्रन्थों में भी जो जो सत्य बात हैं उन का ग्रहण करना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो तो उस को छोड़ देते हैं, क्योंकि उन से सत्यग्रहण की आशा करने से सत्यार्थप्रकाशक वेदादि ग्रन्थों का लोप हो जाता है। इसलिये इन सत्यग्रन्थों के प्रचार के अर्थ उन मिथ्या ग्रन्थों को छोड़ देना अवश्य

चाहिये। क्योंकि विना सत्यविद्या के ज्ञान कहां, विना ज्ञान के उन्नति कैसी और उन्नति के न होने से मनुष्य सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं। अब आगे उन पूर्वलिखित अप्रमाण ग्रन्थों के संक्षेप से पृथक् २ दोष भी दिखलाये जाते हैं। देखो तन्त्रग्रन्थों में ऐसे २ श्लोक लिखे हुए हैं कि (मद्यं मांसं०) मद्य पीना, मांस मच्छी खाना, मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठ के रोटी बड़े आदि उड़ाना, कन्या बहिन माता और पुत्रवधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना, इन पांच मकारों के सेवन से सब की मुक्ति होना ॥ १ ॥ (पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आलयों में मद्य के पात्र धर के एक कोने से खड़े २ मद्य पीने का आरम्भ करके दूसरे में जाना, दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना, यहांतक कि जब पर्य्यन्त पीते २ बेहोश होकर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े तब तक बराबर पीते ही चले जाना, इस प्रकार वारंवार पीके अनेक वार उठ २ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्ममरणादि दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ (प्रवृत्ते भैरवीचक्रे०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं तब उन में ब्राह्मण से लेके चाण्डाल पर्य्यंत सब स्त्री पुरुष आते हैं, फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी करके वहां उस की योनि की पूजा करते हैं, सो केवल इतना ही नहीं किन्तु कभी २ पुरुष को भी नंगा करके स्त्री लोग भी उस के लिङ्ग की पूजा करती हैं। तदनन्तर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याला भरके उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं, फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमांसादिक खाते चले जाते हैं। यहांतक कि जब तक उन्मत्त न होजायं तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं। फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन कर लेते हैं। जब उस स्थान से बाहर निकलते हैं तब कहते हैं कि अब हम लोग अलग २ वर्णवाले हो गये ॥ ३ ॥ (मातृयोनिं०) उन के किसी २ श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे, इस में कुछ दोष नहीं। और (मातरमपि न त्यजेत्)। किसी २ का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिङ्ग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मन्त्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है। इत्यादि अनेक अनर्थरूप कथा तन्त्रग्रन्थों में लिखी हैं। वे सब वेदादिशास्त्र, युक्ति, प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं। क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती परन्तु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति

दीर्घकाल तक होती है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ जो कि व्यासजी के नाम से संप्रदायी लोगों ने रचलिये हैं उन का नाम पुराण कभी नहीं हो सकता, किन्तु उन को नवीन कहना उचित है । अब उन की मिथ्यात्वपरीक्षा के लिये कुछ कथा यहां भी लिखते हैं ।

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्दिवमित्यन्य आहुरुषसमित्यन्ये । तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत् । तस्य यद्रेतसः प्रथममुद्दीप्यत तदसावादित्यो भवत् ॥ ऐ० पं० ३ । कण्ड० ३३ । ३४ ॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता ॥ शत० कां० १० । अ० २ । ब्रा० २ । कं० ४ ॥ तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ॥ निरु० अ० ४ । खं० २१ ॥ द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् । उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १ । सू० १६४ । मंत्रः ३३ ॥ शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यंगाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्य्यन् । पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ २ ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३१ । मं० १ ॥

भाष्यम्

सविता सूर्य्यः सूर्य्यलोकः प्रजापतिसंज्ञकोस्ति, तस्य दुहिता कन्यावद् द्यौरुषा चास्ति । यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तस्यापत्यवत्, स तस्य पितृवदिति रूपकालङ्कारोक्तिः । स च पिता तां रोहितां किञ्चिद्रक्तगुणप्राप्तां स्वां दुहितरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्तः प्रकाशाख्यमादित्यं पुत्रमजीजनदुत्पादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुषा पितृवत्सूर्य्यश्च । कुतः । तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्य्याद्दिवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात् । यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पञ्चघटिकायां रात्रौ स्थितायां किञ्चित्सूर्य्यप्रकाशेन रक्तता भवति तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पितादुहित्राः समागमादुत्कटदीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्तिर्भवति, तथैवात्रापि बोध्यम् । एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः, पितादुहितृवत् । कुतः । पर्जन्याददृभ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः । अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति । स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवज्जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति, तस्माद् गर्भादोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । अयमपि रूपकालङ्कारः ।

अत्र वेदप्रमाणम् (द्यौर्मे पिता०)। प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति, (जनिता) सर्वव्यवहाराणामुत्पादकः। अत्र द्वयोः सम्बन्धत्वात्। तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्त्री। द्वयोश्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोरूर्ध्वं तानयोरुत्तानास्थितयोरलङ्कारः। अत्र पिता पर्जन्यो, दुहितुः पृथिव्या, गर्भं जलसमूहमाधात्, आ समन्ताद्धारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥ १ ॥ (शासद्वह्नि) अयमपि मन्त्रोऽस्यैवालङ्कारस्य विधायकोऽस्ति। वह्निशब्देन सूर्य्यो, दुहिताऽस्य पूर्वोक्तैव। स पिता, स्वस्या उषसो दुहितुः, सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्थापनेन गर्भाधानं कृत्वा, दिवसपुत्रमजनयदिति ॥ २ ॥ अस्यां परमोत्तमायां रूपकालङ्कारविधायिन्यां, निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यमपि, ब्रह्मवैवर्त्तादिषु भ्रान्त्या याः कथा अन्यथा निरूपितास्ता नैव कदाचित्केनापि सत्या मन्तव्या इति।

भाषार्थ

नवीन ग्रन्थकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है जो कि प्रथम रूपकालङ्कार की थी। (प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम०) अर्थात् यहां प्रजापति कहते हैं सूर्य्य को, जिस की दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा। क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका ही संतान कहाता है। इसलिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में रक्तता दीख पड़ती है वह सूर्य्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उसकी कन्या कहाती है। उन में से उषा के सन्मुख जो प्रथम सूर्य्य की किरण जाके पड़ती है वही वीर्य्यस्थापन के समान है। उन दोनों के समागम से पुत्र अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है। प्रजापति और सविता ये शतपथ में सूर्य्य के नाम हैं। तथा निरुक्त में भी रूपकालंकार की कथा लिखी है कि पिता के समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है उस की पृथिवी रूप दुहिता अर्थात् कन्या है। क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल से ही है। जब वह उस कन्या में वृष्टिद्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है तब उससे गर्भ रहकर ओषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं। इस कथा का मूल ऋग्वेद है कि (द्यौर्मे पिता०)। द्यौ जो सूर्य्य का प्रकाश है सो सब सुखों का हेतु होने से मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी माता के तुल्य है। (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते हैं अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं इसी प्रकार सूर्य्य और पृथिवी अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य्य और नीचे

के बिछौने के समान पृथिवी है। तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हों इसी प्रकार सब लोगों का परस्पर सम्बन्ध है। इस में योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी और गर्भस्थापन करने वाला पति के समान मेघ है। वह अपने विन्दुरूप वीर्य्य के स्थापन से उस को गर्भधारण कराने से ओषध्यादि अनेक सन्तान उत्पन्न करता है कि जिनसे सब जगत् का पालन होता है ॥ १ ॥ (शासद्वह्नि०) सब का वहन अर्थात् प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये रूपकालङ्कार कथाओं का उपदेश किया है। तथा वही (ऋतस्य) जल का धारण करने वाला, (नप्त्यङ्गा०) जगत् में पुत्र पौत्रादि का पालन और उपदेश करता है। (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता दुहिता में वीर्य्य स्थापन करता है जैसा कि पूर्व लिख आये हैं इसी प्रकार यहां भी जान लेना। जिसने इस प्रकार के पदार्थ और उन के सम्बन्ध रचे हैं उसको हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥ जो वह रूपकालङ्कार की कथा अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रन्थों में प्रसिद्ध है, इसको ब्रह्मवैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रन्थों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है, तथा ऐसी २ अन्य कथा भी लिखी हैं। उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग के सत्य कथाओं को कभी न भूलें।

तथा च कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज आसीत्। स गोतमस्त्रियां जारकर्म कृतवान्। तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति। तस्यै अहल्यायै शापो दत्तस्त्वं पाषाणशिला भवेति। तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य मोक्षणं जातमिति। तत्रेदृश्यो मिथ्यैव कथाः सन्ति। कुतः। आसामप्यलङ्कारार्थत्वात्। तद्यथा—

इन्द्रागच्छेति। गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति। तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुमोदयिषति ॥ शत० कां० ३। प्र० ३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १८ ॥ रेताः सोमः ॥ श० कां० ३। अ० ३। ब्रा० २। कं० १ ॥ रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते ॥ निरु० अ० १२। खं० ११ ॥ सुर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति। सोपि गौरुच्यते ॥ निरु० अ० २। खं० ६ ॥ जार आ भगः *। जार इव भगम्। आदित्योत्र जार उच्यते, रात्रेर्जरयिता ॥ निरु० अ० ३।

* भगमिति श्रीवेंकटेश्वर मुद्रिते निरुक्ते पाठः ॥

खं० १६ ॥ एष एवेन्द्रो य एष तपति॥ श० कां० १ । अ० ६ । ब्रा० ४ । कं० १८ ॥

भाष्यम्

इन्द्रः सूर्य्यो, य एष तपति, भूमिस्थान्पदार्थांश्च प्रकाशयति । अस्येन्द्रेति नाम परमैश्वर्य्यप्राप्तेर्हेतुत्वात् । स अहल्याया जारोस्ति । सा सोमस्य स्त्री । तस्य गोतम इति नाम । गच्छतीति गौरतिशयेन गौरिति गोतमश्चन्द्रः । तयोः स्त्रीपुरुषवत् सम्बन्धोस्ति । रात्रिरहल्या । कस्मादहर्दिनं लीयतेऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते । स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोदयति, स्वस्त्रियाऽहल्यया सुखयति । अत्र स सूर्य्य इन्द्रो, रात्रेरहल्यायाः, गोतमस्य चन्द्रस्य स्त्रिया, जार उच्यते । कुतः । अयं रात्रेर्जरयिता । जृष् वयोहानाविति धात्वर्थोऽभिप्रेतोस्ति । रात्रेरायुषो विनाशक इन्द्रः सूर्य्य एवेति मन्तव्यम् । एवं सद्विद्योपदेशार्थालङ्कारायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणीतायां कथायां सत्यां, या नवीनग्रन्थेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति, सा केनचित्कदापि नैव मन्तव्या, ह्येतादृश्योऽन्याश्चापि ।

भाषार्थ

अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है कि जिसको मूढ लोगों ने अनेक प्रकार बिगाड़ के लिखा है सो उसको ऐसे मान रक्खा है कि देवों का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था । वह गोतम ऋषि की स्त्री अहल्या के साथ जारकर्म किया करता था । एक दिन जब उन दोनों को गोतम ने देखलिया तब इस प्रकार शाप दिया कि हे इन्द्र ! तू हजार भग वाला होजा । तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाषाणरूप होजा । परन्तु जब उन्होंने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब होगा तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भग के स्थान में हजार नेत्र हो जायं और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आजावेगी । इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी है। सत्य ग्रन्थों में ऐसे नहीं है । तद्यथा—(इन्द्रागच्छेति), अर्थात् उन में इस रीति से है कि सूर्य्य का नाम इन्द्र, रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गोतम है । यहां रात्रि और चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान रूपकालङ्कार है । चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि से सब प्राणियों को आनन्द कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है । अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान

हो जाती है और जार अर्थात् यह सूर्य ही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृंगार को बिगाड़ने वाला है । इसलिये यह स्त्रीपुरुष का रूपकालङ्कार बांधा है कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं वैसे ही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ २ रहते हैं । चन्द्रमा का नाम गोतम इसलिये है कि वह अत्यन्त वेग से चलता है और रात्रि को अहल्या इसलिये कहते हैं कि उस में दिन लय हो जाता है । तथा सूर्य्य रात्रि को निवृत्त कर देता है इसलिये वह उसका जार कहाता है । इस उत्तम रूपकालङ्कारविद्या को अल्पबुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया है । इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं को मूल से ही त्याग कर दें ।

एवमेवेन्द्रः कश्चिद्देहधारी देवराज आसीत्तस्य त्वष्टुरपत्येन वृत्रासुरेण सह युद्धमभूत् । वृत्रासुरेणेन्द्रो निगलितोऽतो देवानां महद्भयमभूत् । ते विष्णुशरणं गता, विष्णुरुपायं वर्णितवान्—मया प्रविष्टेन समुद्रफेनेनायं हतो भविष्यतीति । ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथा पुराणभाषादिषु नवीनेषु ग्रन्थेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्विद्वद्भिर्मन्तव्यम् । कुतः । एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात् । तद्यथा—

इन्द्र॑स्य॒ नु वी॒र्या॑णि॒ प्र वो॑चं॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री । अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त्पर्व॑तानाम् ॥ १ ॥ अह॒न्नहि॒ं पर्व॑ते शिश्रिया॒णं त्वष्टा॑स्मै॒ वज्रं॑ स्व॒र्यं॑ ततक्ष । वा॒श्रा इ॑व धे॒नवः॒ स्यन्द॑माना॒ अञ्जः॑ समु॒द्रमव॑ जग्मु॒रापः॑ ॥ २ ॥ ऋ० मं० १ । सू० ३२ । मं० १ । २ ॥

भाष्यम्

इन्द्रस्य सूर्य्यस्य परमेश्वरस्य वा तानि वीर्य्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं कथयामि, यानि प्रथमानि पूर्वं, (नु) इति वितर्के, वज्री चकार । (वज्री) वज्रः प्रकाशः प्राणो वास्यास्तीति । वीर्य्यं वै वज्रः ॥ श० कां० ७ । अ० ४ (१) ॥ स अहिं मेघमहन् हतवान्, तं हत्वा पृथिव्यामनुपश्चादपस्ततर्द विस्तारितवान् । ताभिरद्भिः प्रवक्षणा नदीस्ततर्द जलप्रवाहेण हिंसितवान् । तटादीनां च भेदं कारितवानस्ति । कीदृश्यस्ता नद्यः ? । पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्यमानाः यज्जलमन्तरिक्षाद्धिंसित्वा निपात्यते तद् वृत्रस्य शरीरमेव विज्ञेयम् ॥ १ ॥ अग्रे मन्त्राणां संक्षेपतोऽर्थो वर्ण्यते । (त्वष्टा) सूर्य्यः (अहन्नहिं) तं मेघमहन् हतवान् कथं हतवानित्यत्राह । (अस्मै) अहये वृत्रासुराय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणम्) मेघे श्रितम् (स्वर्य्यम्) प्रकाशमयम् (वज्रम्) स्वकिरणजन्यं विद्युत्

प्रक्षिपति । येन वृत्रासुरं मेघं (ततक्ष) कणीकृत्य भूमौ पातयति । पुनर्भूमौ गतमपि जलं कणीकृत्याकाशं गमयति । ता आपः समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति । कथम्भूता आपः ? । (अञ्जः) व्यक्ताः (स्यन्दमानाः) चलन्त्यः । का इव ? । वाश्राः वत्समिच्छवो गाव इव । आप एव वृत्रासुरस्य शरीरम् । यदिदं वृत्रशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं तदिदं सूर्यस्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ

तीसरी इन्द्र और वृत्रासुर की कथा है । इस को भी पुराणवालों ने ऐसा धर के लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से विरुद्ध जा पड़ी है । देखो कि त्वष्टा के पुत्र वृत्रासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल लिया । तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप में गये और विष्णु ने उस के मारने का उपाय बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट होऊंगा, तुम लोग उस फेन को उठा के वृत्रासुर के मारना, वह मर जायगा । यह पागलों की सी बनाई हुई पुराणग्रन्थों की कथा सब मिथ्या है । श्रेष्ठ लोगों को उचित है कि इन को कभी न मानें । देखो सत्यग्रन्थों में यह कथा इस प्रकार से लिखी है कि (इन्द्रस्य नु०) । यहां सूर्य्य का इन्द्र नाम है, उस के किये हुए पराक्रमों को हम लोग कहते हैं । जो कि परमैश्वर्य्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजधारी है वह अपनी किरणों से वृत्र अर्थात् मेघ को मारता है । जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है तब अपने जलरूप शरीर को सब पृथिवी में फैला देता है । फिर उससे अनेक बड़ी २ नदी परिपूर्ण होके समुद्र में जा मिलती हैं । कैसी वे नदी हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जल ही बहने के लिये होती हैं । जिस समय इन्द्र मेघरूप वृत्रासुर को मार के आकाश से पृथिवी में गिरा देता है तब वह पृथिवी में सो जाता है ॥ १ ॥ फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात् मेघमण्डल का पुनः आश्रय लेता है । जिसको सूर्य्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है । जैसे कोई लकड़ी को छील के सूक्ष्म कर देता है वैसे ही वह मेघ को भी बिन्दु २ कर के पृथिवी में गिरा देता है और उस के शरीररूप जल सिमट २ कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़ के मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन्वृत्रं वृत्रतरं व्यंसमिन्द्रो वज्रेण महता वधेन । स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत उपपृक्पृथिव्याः ॥ ३ ॥ अपादहस्तो

अपूतन्नृदिन्द्रमास्य वज्रमधि सानौ जघान वृष्णो वध्रिः प्रतिमानं बुभूषन्पुरुत्रा वृत्रो अशयद्व्यस्तः ॥ ४ ॥ ऋ० मण्ड० १ । सू० ३२ । मं० ५ । ७

भाष्यम्

अहिरिति मेघनामसु पठितम् ॥ निघं० अ० १ । खं० १० ॥ इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशत्रुः । तत्को वृत्रो ? मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः । वृत्रं जघ्निवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा, वर्त्ततेर्वा, वर्धतेर्वा, यदवृणोत्तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्त्तत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । यदवर्धत तद्वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते ॥ निरु० अ० २ । खं० १६, १७ ॥ (इन्द्रः) सूर्य्यः (वज्रेण) विद्युत्किरणाख्येन (महता व०) तीक्ष्णतरेण (वृत्रम्) मेघम् (वृत्रतरम्) अत्यन्तबलवन्तम् (व्यंसम्) छिन्नस्कन्धं छेदितघनजालं यथा स्यात्तथा (अहन्) हतवान् ॥ ३ ॥ स (अहिः) मेघः (कुलिशेन) वज्रेण (विवृक्णा) छिन्नानि स्कन्धांसीव (पृथिव्या उपपृक्) यथा कस्यचिन्मनुष्यादेरसिना छिन्नं सदङ्गं पृथिव्यां पतति तथैव स मेघोऽपि (अशयत), छन्दसि लुङ् लङ् लिट इति सामान्यकाले लङ्, पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्य्येणापाद्हस्तो व्यस्तो भिन्नाङ्गकृतो वृत्रो मेघो भूमावशयत् शयनं करोतीति ॥ ४ ॥ निघण्टौ अ० १ । खं० १० ॥ वृत्र इति मेघस्य नाम । इन्द्रः शत्रुर्यस्य स इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य निवारकः । त्वष्टा सूर्य्यस्तस्यापत्यमसुरो मेघः । कुतः । सूर्य्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत्कणीभूतं जलमुपरि गच्छति, तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति । तस्यैवासुर इति संज्ञात्वात् । पुनश्च तं सूर्य्यो हत्वा भूमौ निपातयति । स च भूमिं प्रविशति । नदीर्गच्छति । तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति पुनश्चोपरि गच्छति । तं वृत्रमिन्द्रः सूर्य्यो जघ्निवानपववार निवारितवान् । वृत्रार्थो वृणोतेः स्वीकरणीयः । मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्त्तमानत्वाद्वर्धमानत्वाच्च सिद्धमिति विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

जब सूर्य्य उस अत्यन्त गर्जित मेघ को छिन्न भिन्न करके पृथिवी में ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट २ कर गिराता है तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान शयन करने वाला हो जाता

है ॥ ३ ॥ निघण्टु में मेघ का नाम वृत्र है। (इन्द्रशत्रु०) वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य्य है, सूर्य्य का नाम त्वष्टा है, उस का सन्तान मेघ है, क्योंकि सूर्य्य की किरणों के द्वारा जल कण २ होकर ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप हो जाता है। तथा मेघ का वृत्र नाम इसलिये है कि (वृत्रो वृणोतेः०) वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का आवरण करने वाला है।

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरम्। वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ॥ ५ ॥ नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्ध्रादुनिं च। इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये ॥ ६ ॥ ऋ० मं० १। सू० ३२। मं० १०। १३ ॥

भाष्यम्

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति। वृत्रो ह वाऽइदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये। यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी। स यदिदꣳ सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद्वृत्रो नाम ॥ ४ ॥ तमिन्द्रो जघान। स हतः पूतिः सर्वत एवाऽपोऽभिप्रसुस्राव। सर्वत इव ह्ययꣳ समुद्र,स्तस्मादु हैका आपो बीभत्सांचक्रिरे। ता उपर्य्युपर्य्यतिपुप्रुविरे,ऽत इमे दर्भा,स्ता हैता अनापूयिता आपो,ऽस्ति वाऽइतरासु सꣳसृष्टमिव, यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्य,थ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति, तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति ॥ ५ ॥ श० कां० १। अ० १। ब्रा० ३। कण्डि० ४। ५ ॥ तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः, सूर्य्यो द्युस्थान इति ॥ निरु० अ० ७। खं० ५ ॥ (अतिष्ठन्तीनाम्०) वृत्रस्य शरीरमापो दीर्घं तमश्चरन्ति। अत एवेन्द्रशत्रुर्वृत्रो मेघो भूमावशयत्। आ समन्ताच्छेते ॥ ५ ॥ (नास्मै विद्युत्०) वृत्रेण मायारूपप्रयुक्ता विद्युत्तन्यतुश्चास्मै सूर्य्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नोति। अहिर्मेघः, इन्द्रः सूर्य्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते। यदा वृत्रो वर्धते तदा सूर्य्यप्रकाशं निवारयति। यदा सूर्य्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृत्रं मेघं निवारयति। परन्तु मघवा इन्द्रः सूर्य्यस्तं वृत्रं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति। अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति ॥ ६ ॥ (वृत्रो ह वा इति०) स वृत्र इदं सर्वं विश्वं वृत्वाऽऽवृत्य शिश्ये शयनं करोति। तस्माद्वृत्रो नाम। तं वृत्रं मेघमिन्द्रः सूर्य्यो जघान

हतवान् । स हतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः काष्ठतृणादिभिः संयुक्तः पूतिर्दुर्गन्धो भवति स पुराकाशस्थो भूत्वा सर्वतोऽपोभिसुस्राव, तासां वर्षणं करोति । अयं हतो वृत्रः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयङ्करो भवति । अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति । इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदीसमुद्रपृथिवीगता आपः सूर्य्यद्वारेणोपर्य्युपर्य्यन्तरिक्षं पुप्रुविरे गच्छन्ति, ततोभिवर्षन्ति च । ताभ्य एवेमे दर्भाद्योषधिसमूहा जायन्ते । यौ वाय्विन्द्रौ सूर्य्यपवनावान्तरिक्षस्थानौ सूर्य्यश्च द्युस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः । एवं सत्यशास्त्रेषु परमोत्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्त्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणाभासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गी कर्त्तव्या इति ।

भाषार्थ

(अतिष्ठन्तीनाम्) वृत्र के इस जलरूप शरीर से बड़ी २ नदियां उत्पन्न हो के अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं और जितना जल तलाव वा कूप आदि में रह जाता है वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है ॥ ५ ॥ (नास्मै०) अर्थात् वह वृत्र अपने बिजुली और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता । इस प्रकार अलङ्काररूप वर्णन से इन्द्र और वृत्र ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं अर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्य्य के प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है तब वह वृत्र नाम मेघ को हटा देता है । परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्य्य ही का विजय होता है ॥ ६ ॥ (वृत्रो ह वा०) जब २ मेघ वृद्धि को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत हो के फैलता है तब २ उस को सूर्य्य हनन करके पृथिवी में गिरा दिया करता है । पश्चात् वह अशुद्ध भूमि, सड़े हुए वनस्पति, काष्ठ, तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं २ दुर्गन्धरूप भी हो जाता है । फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है । तब समुद्र का जल देखने में भयङ्कर मालूम पड़ने लगता है । इसी प्रकार वारम्वार मेघ वर्षता रहता है । (उपर्य्युपर्य्यन्त०) अर्थात् सब स्थानों से जल उड़ २ कर आकाश में बढ़ता है । वहां इकट्ठा हो कर फिर २ वर्षा किया करता है । उसी जल और पृथिवी के संयोग से ओषध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं । उसी मेघ को वृत्रासुर के नाम से बोलते हैं । वायु और सूर्य्य का नाम इन्द्र है । वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य्य प्रकाशस्थान में स्थित है । इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता

है कि जिसके अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य्य का विजय निःसंदेह होता है। इस सत्य ग्रन्थों की अलङ्काररूप कथा को छोड़ के छोकरों के समान अल्पबुद्धि वाले लोगों ने ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थों में मिथ्या कथा लिख रक्खी हैं, उन को श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें।

एवमेव नवीनेषु ग्रन्थेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंग्रामकथा अन्यथैव सन्ति, ता अपि बुद्धिमद्भिर्मनुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः। कुतः। तासामप्यलङ्कारयोगात्। तद्यथा। देवासुराः संयत्ता आसन्॥ १॥ श० कां० १३। अ० ३। ब्रा० ४। कं० १॥ असुरानभिभवेम देवाः। असुरा असुरता स्थानेष्व, स्ताः स्थानेभ्य इति वा। अपि वासुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति, तेन तद्वन्तः। सोर्देवानसृजत तत्सुराणां सुरत्वम, सोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वमिति विज्ञायते॥ निरु० अ० ३। खं० ८॥ देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापिवासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम्॥ निरु० अ० १०। खं० ३४॥ सोर्चञ्छ्राम्यंश्चचार प्रजाकामः। स आत्मन्येव प्रजातिमधत्त, स आस्येनैव देवानसृजत, ते देवा दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त, तस्मै ससृजानाय दिवेवास, तद्वेव देवानां देवत्वं यदस्मै ससृजनाय दिवेवास॥ अथ योयमावाङ्प्राणः तेनासुरानसृजत, इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त,* तस्मै ससृजानाय तम इवास। सोऽवेत्। पाप्मानं वाऽअसृक्षि, यस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदिति, तांस्तत एव पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवं,-स्तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं, यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यत इतिहासे त्वत्,ततो ह्येव तान् प्रजापतिः पाप्मना विध्यत्ते तत एव पराभवन्निति॥ तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्। न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्स इति॥ स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवेवास तदहरकुरुताथ यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तम इवास ताᳪं रात्रिमकुरुत ते अहोरात्रे। स ऐक्षत प्रजापतिः॥ श० कां० ११। अ० १। ब्रा० ६। कं० ७। ८। ९। १०। ११। १२॥ देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्रजापत्याः प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः॥ श० कां० १। अ० ७। ब्रा० २। कं० २२॥ द्वया ह प्राजापत्याः। देवाश्चासुराश्च, ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः।

---

* वैदिकयन्त्रालयमुद्रितशतपथे समित्युपसर्गो नास्ति।

यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥ श० कां० १४ । अ० ४ । ब्रा० १ । कं० १ । ३ ॥ ऊर्गिति देवा मायेत्यसुराः ॥ श० कां० १० । अ० ५ । ब्रा० २ । कं० २० ॥ प्राणा देवाः ॥ श० कां० ६ । अ० ३ । ब्रा० १ । कं० १५ ॥ प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया ॥ श० कां० ६ । अ० ६ । ब्रा० २ । कं० ६ ॥ (देवासुराः०) देवा असुराश्च संयत्ता सज्जा युद्धं कर्त्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः । के ते देवासुरा इत्यत्रोच्यते । विद्वांसो हि देवाः ॥ श० कां० ३ । अ० ७ । ब्रा० ३ । कं० १० ॥ हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः । ये देवास्ते विद्यावत्त्वात्प्रकाशवन्तो भवन्ति । ये ह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वाज् ज्ञानरहितान्धकारिणो भवन्ति । एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्त्ततेऽयमेव दैवासुरसंग्रामः ॥ द्वयं वा इदं, न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं, तस्मात्ते यशो, यशो ह भवति । य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति, मनो ह वै देवा मनुष्यस्य ॥ श० कां० १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४ । ५ । ७ ॥ ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः सत्यकारिणश्च ते देवाः । ये चानृतवादिनोऽनृतकारिणोऽनृतमानिनश्च ते मनुष्या असुरा एव । तयोरपि परस्परं विरोधा युद्धमिव भवत्येव । मनुष्यस्य यन्मनस्तद्देवाः, प्राणा असुरा, एतयोरपि विरोधो भवति । मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां निग्रहो भवति, प्राणबलेन मनसश्चेति युद्धमिव प्रवर्त्तते । प्रकाशाख्यात्सोर्देवान्मनःषष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत । अतस्ते प्रकाशकारकाः । असोरन्धकाराख्यात्पृथिव्यादेरसुरान्पञ्चकर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चासृजत । एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वानुरोधेन संग्रामवदनयोर्वर्त्तमानमस्तीति विज्ञेयम् । (सोर्चञ्छ्राम्यंश्चचार०) प्रजाकामः परमेश्वर, आस्येनाग्निपरमाणुमयात्कारणात्, सूर्य्यादीन्प्रकाशवतो लोकान् मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत, ते देवा द्योतमाना दिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरितमभिपद्य, प्रकाशादिव्यवहारानसृज्यन्त । तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते दिवि प्रकाशे रमन्ते । अथेत्यनन्तरमर्वाचीनो योयं प्राणो वायुः पृथिव्यादिलोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान्प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति । ते पृथिवीमभिपद्यौषध्यादीन्पदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे सकार्य्याः प्रकाशरहितास्तयोस्तमःप्रकाशवतोरन्योन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्त्तते, तस्मादिदमपि देवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोऽस्ति, पापात्मा ह्यसुरश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावा-

युद्धमिव प्रतिदिनं भवति, तस्मादेषोऽपि देवासुरसंग्रामोस्तीति विज्ञेयम् । एवमेव दिनं देवो, रात्रिरसुरः । एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तते । त इमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्त्तन्ते, अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः सन्ति । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वोत्पन्नत्वात्प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वेऽविद्वांसो भवन्ति । पुनर्विद्वांसश्च । तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां च तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः । एकत्र देवाः सूर्य्यादयो ज्येष्ठाः पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च । ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्तस्यापत्यानीव सन्तीति विज्ञेयम् । एषामपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्त्तत इति ज्ञातव्यम् । ये प्राणपोषकाः स्वार्थसाधनतत्परा मायाविनः कपटिनो मनुष्यास्ते ह्यसुराः । ये च परोपकारकाः परदुःखभंजना निष्कपटिनो धार्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः । एतयोरपि परस्परं विरोधात्संग्राम इव भवति । इत्यादिप्रकारकं देवासुरं युद्धमिति बोध्यम् । एवं परमोत्तमायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालङ्कारेणान्वितायां सत्यशास्त्रेषूक्तायां कथायां सत्यां, व्यर्थपुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तन्त्रादिषु ग्रन्थेषु च, या मिथ्यैव कथा वर्णिताः सन्तिः, विद्वद्भिर्नैवैताः कथाः कदाचिदपि सत्या मन्तव्या इति ।

भाषार्थ

जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालङ्कार की है इस को भी विना जाने प्रमादी लोगों ने बिगाड़ दिया है । जैसे एक दैत्यों की सेना थी कि जिन का शुक्राचार्य्य पुरोहित था और वे दक्षिण देश में रहे थे, तथा दूसरी देवों की सेना थी कि जिन का राजा इन्द्र, सेनापति अग्नि और पुरोहित बृहस्पति था । उन देवों के विजय कराने के लिये आर्य्यावर्त्त के राजा भी जाया करते थे । असुर लोग तप करके ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि से वर मांग लेते थे और उनके मारने के लिये विष्णु अवतार धारण करके पृथिवी का भार उतारा करते थे । यह सब पुराणों की गप्पें व्यर्थ जानकर छोड़ देना और सत्य ग्रन्थों की कथा जो नीचे लिखते हैं उन का ग्रहण करना सब को उचित है । तद्यथा–(देवासुराः सं), देव और असुर अपने २ बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं, तथा इन्द्र और वृत्रासुर की जो कथा ऊपर लिख आये सो भी देवासुरसंग्रामरूप जानो । क्योंकि सूर्य्य की किरण देवसंज्ञक और मेघ के अवयव अर्थात् बादल असुरसंज्ञक हैं । उन का परस्पर युद्ध वर्णन पूर्व कर दिया

है । निघण्टु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य्य देव और मेघ असुर करके प्रसिद्ध है । इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संग्राम का स्वरूप यथावत् जान लेवें । जैसे जो लोग विद्वान्, सत्यवादी, सत्यमानी और सत्यकर्म करने वाले हैं वे तो देव और जो अविद्वान्, झूंठ बोलने, झूंठ मानने और मिथ्याचार करने वाले हैं वे असुर कहाते हैं । उन का परस्पर नित्य विरोध होना यही उनके युद्ध के समान है । इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं, उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं । तथा सब प्राणों का नाम असुर है, उन में राजा प्राण और अपानादि सेना है । इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है । मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है । (सोर्दे०) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय, उनके परस्पर संयोग तथा सूर्य्य आदि को ईश्वर रचता है । और (असो०) अन्धकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और पृथिवी आदि को रचता है जो कि प्रकाशरहित होने से असुर कहाते हैं । प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इन की भी संग्राम संज्ञा मानी है । तथा पुण्यात्मा मनुष्य देव और पापात्मा दुष्ट लोग असुर कहाते हैं । उनका भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है । तथा दिन का नाम देव और रात्रि का नाम असुर है । इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है । तथा शुक्लपक्ष का नाम देव और कृष्णपक्ष का नाम असुर है । तथा उत्तरायण की देवसंज्ञा और दक्षिणायन की असुर संज्ञा है । इन सभों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां २ ऐसे लक्षण घट सकें वहां २ देवासुर संग्राम का रूपकालङ्कार जान लेना । ये सब देव और असुर प्राजापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं । इनमें से जो २ असुर अर्थात् प्राण आदि हैं वे ज्येष्ठ कहाते हैं क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं, तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं, तथा सूर्य्य, ज्ञानेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं । उन में से जो २ मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करने वाले तथा कपट छल आदि दोषों से युक्त हैं वे असुर और जो लोग परोपकारी परदुःखभञ्जन तथा धर्मात्मा हैं वे देव कहाते हैं । इस सत्यविद्या के प्रकाश करने वाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग करदेना सब को उचित है ।

एवमेव कश्यपगयादितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्त्तादिषु ग्रन्थेषु वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो विरुद्धा उक्ताः सन्ति । तद्यथा । मरीचिपुत्रः कश्यप ऋषिरासीत्तस्मै त्रयोदश कन्या दक्षप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः । तत्सङ्गमे दितेर्दैत्या, अदितेरादित्याः, दनोर्दानवाः, एवमेव कद्र्वाः सर्पाः, विनतायाः पक्षिणः । तथाऽन्यासां सकाशाद्वानरर्क्षवृक्षघासादय उत्पन्ना इत्याद्या अन्धकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असम्भवग्रस्ताः कथा उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम् । तद्यथा—

स यत्कूर्मो नाम । प्रजापतिः प्रजा असृजत, यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्म्मः, कश्यपो वै कूर्म्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति ॥ श० कां० ७ । अ० ५ । ब्रा० १ । कं० ५ ॥

भाष्यम्

(स यत्कूर्म्मः) परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते तस्मात्तस्य कूर्म्म इति संज्ञा । कश्यपो वै कूर्म्म इत्यनेन परमेश्वरस्यैव कश्यप इति नामास्ति । तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमाः प्रजाः काश्यप्य इत्युच्यन्ते । कश्यपः कस्मात्पश्यको भवतीति निरुक्त्या, पश्यतीति पश्यः सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः, पश्य एव निर्भ्रमतयाऽतिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति । आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययाद्धिंसेः सिंहः, कृतेस्तर्कुरित्यादिवत्कश्यप इति हयवरट् इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति । अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति ।

भाषार्थ

जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़ के प्रसिद्ध की हैं, जैसे देखो कि मरीचि के पुत्र एक कश्यप ऋषि हुए थे, उन को दक्षप्रजापति ने विवाह विधान से तेरह कन्या दीं, कि जिनसे सब संसार की उत्पत्ति हुई । अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्रू से सर्प और विनता से पक्षी तथा औरों से वानर, ऋच्छ, घास आदि पदार्थ भी उत्पन्न हुए । इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं । इत्यादि प्रमाण और युक्ति से विरुद्ध अनेक असंभव कथा लिख रक्खी हैं । उनको मानना किसी मनुष्य को उचित नहीं । देखिये ये ही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की उत्तम लिखी हैं । (स यत्कूर्मो०) प्रजा को उत्पन्न करने से कूर्म्म तथा उसको अपने ज्ञान से देखने के कारण उस परमेश्वर को कश्यप भी

कहते हैं । (कश्यप) यह शब्द (पश्यकः) इस शब्द के आद्यन्ताक्षरविपर्य्यय से बनता है इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ देवें कि जिससे सबका कल्याण हो । अब देखो गयादि तीर्थों की कथाओं को ।

प्राणो वै बलं, तत्प्राणे प्रतिष्ठितं, तस्मादाहुर्बलꣳसत्यादोजीय, इत्येवम्वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥ सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे, तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्रीनाम ॥ श० कां० १४ । अ० ८ । ब्रा० ५ । कं० ६ । ७ ॥ तीर्थमेव प्रायणीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन हि प्रस्नान्ति ॥ तीर्थमेवोदयनीयोऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युत्स्नान्ति ॥ श० कां० १२ । अ० २ । ब्रा० १ । कं० १ । ५ ॥ गय इत्यपत्यनामसु पठितम् ॥ निघं० अ० २ । खं० २ ॥ अहिꣳसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति छान्दोग्योपनि० ॥ प्र० ८ । खं० १५ ॥ समानतीर्थे वासी ॥ इत्यष्टाध्याय्याम् ॥ अ० ४ । पा० ४ । सू० १०७ ॥ सतीर्थ्यो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् । त्रयः स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति ॥ यो विद्यां समाप्य व्रतमसमाप्य समावर्त्तते स व्रतस्नातक इत्यादि पारस्करगृह्यसूत्रे ॥ नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रचरन्ति सकाहस्ता निषङ्गिणः । इति शुक्लयजुर्वेदसंहितायाम् ॥ अ० १६ । मं० ४२, ६१ ॥ एवमेव गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यमित्यत्रोच्यते । तद्यथा—प्राण एव बलमिति विज्ञायते, बलमोजीयः । तत्रैव सत्यं प्राणेऽध्यात्मं प्रतिष्ठितं, तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् । गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठिता, तां गायत्रीं गयामाह । प्राणानां गयेति संज्ञा, प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां श्राद्धं कर्त्तव्यम् । अर्थात् गयाख्येषु प्राणेषु श्रद्धया समाधिविधानेन परमेश्वरप्राप्तावत्यन्तश्रद्धधाना जीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गयाश्राद्धविधानम् । गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री इत्यभिधीयते । एवमेव गृहस्य[1]ापत्यस्य[2] प्रजायाश्च गयेति[3] नामास्ति । अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः श्रद्धातव्यम् । गृहकृत्येषु श्रद्धावश्यं विधेया । मातुः पितुराचार्य्यस्यातिथेश्चान्येषां मान्यानां च श्रद्धया सेवाकरणं गयाश्राद्धमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे ह्युपकारे च श्रद्धावश्यं सर्वैः कार्य्येति अत्र श्रद्धाकरणेन विद्याप्राप्त्या मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते । अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति च पदद्वयोरर्थविज्ञानाभावान्मगधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि

---

(१) निघं० ३, ४ । (२) निघं० २, २ । निघण्टौ गया इति स्त्रीलिंग: पाठो नास्ति ।

शिल्पिद्वारा मनुष्यपादचिह्नं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैरुदरम्भरैर्विष्णुपदमिति नाम रचितम्, तस्य स्थलस्य गयेति च, तद् व्यर्थमेव । कुतः । विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणगृहप्रज्ञानां चातोऽत्रेयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम् ।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥ १ ॥ यजु० अ० ५ । मं० १५ ॥ यदिदं किञ्च तद्विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । त्रेधा भावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः, समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः । समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यत इति । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्नाः शेरत इति वा, पंसनीया भवन्तीति वा ॥ निरु० अ० १२ । खं० १९ ॥

अस्यार्थं यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा । विष्णुर्व्यापकः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्त्ता तस्य पूषेति नाम । अत्राह निरुक्तकारः ।

पूषेत्यथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति, विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा । तस्यैषा भवति । इदं विष्णुरित्यृक् ॥ निरु० अ० १२ । खं० १८ । १९ ॥

भाष्यम्

वेवेष्टि विशितः प्रविष्टोस्ति, चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा स विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगत ईश्वरोस्ति । एतदर्थवाचिकेयमृक् । इदं सकलं जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । क्रमु पादविक्षेपे । पादैः प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्यांशैर्जगदिदं पदं प्राप्तव्यं सर्वं वस्तुजातं त्रिषु स्थानेषु (निधत्ते) निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वादियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यल्लघुत्वादियुक्तं वायुपरमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्य्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमयेऽग्नौ वेति विज्ञेयम् । एवं त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूढं मोहेन सह वर्त्तमानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरेऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वे लोका अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्यवादार्हं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् । अयमेवार्थः (यदिदं किञ्च०) इत्यनेन यास्काचार्य्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्त्तते तत्सर्वं विष्णुर्व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् । (त्रिधा निधत्ते पदं) त्रेधा भावाय, त्रिप्रकारकस्य जगतो भवनाय, तदुक्तं पूर्व-

मेव । तस्मिन् (विष्णुपदे) मोक्षाख्ये (समारोहणे) समारोढुमर्हे (गयशिरसीति) प्राणानां प्रजानां च यदुत्तमाङ्गं प्रकृत्यात्मकं शिरो यथा भवति, तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः, प्रजाप्राणयोरुपरिभागे वर्त्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्त्तते, तस्मिन् गयशिरसि विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्येस्तीति । कुतः । व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके परमेश्वरे वर्त्तमानत्वात् । पांसुरे ष्यायनेऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमाण्वाख्यं यज्जगत्तच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसंघाताः पादैस्तद्द्रव्यांशैः सूयन्त उत्पद्यन्ते, अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्थाः दृश्या भूत्वेश्वरे शेरत इति विज्ञायते । इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः पण्डिताभासैः प्रचारित इति बोद्धव्यम् । तथैव वेदाद्युक्तरीत्याऽऽर्यैश्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्कृत्वा जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि तीर्थानि मतानि । यानि च भ्रान्तै रचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि तानि वेदार्थाभिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् । तद्यथा । (तीर्थमेव प्राय०) यत्प्रायणीययज्ञस्याङ्गमतिरात्राख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते तदेव तीर्थमिति वेद्यम् । येन तीर्थेन मनुष्याः प्रस्नाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुदयनीयाख्यं यज्ञसम्बन्धि सर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति, तदेव दुःखसमुद्रात्तारकत्वात्तीर्थमिति मन्तव्यम् । एवमेव (अहिंᳫसन्०) मनुष्यः सर्वाणि भूतान्यहिंसन्, सर्वभूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्त्तेत । परन्तु तीर्थेभ्यो वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्योऽन्यत्राहिंसा धर्मो मन्तव्यः । तद्यथा । यत्र यत्रापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्त्तव्यमेव । ये पाखण्डिनो वेदसत्यधर्मानुष्ठानशत्रवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव । अत्र वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति । तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्तधर्म्मकर्म्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रात्तरन्त्येव । तेषु सम्यक् स्नात्वा मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः ॥ तथैव समानतीर्थे वासीत्यनेन समानो द्वयोर्विद्यार्थिनोरेक आचार्य्यः समानमेकशास्त्राध्ययनं चात्राचार्य्यशास्त्रयोस्तीर्थसंज्ञास्ति । मातापित्रतिथीनां सम्यक्सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्त्या दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखात्तारकत्वादेव मन्तव्यानि । एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः सम्पादनीयेति । (त्रयः स्ना०) त्रय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति । तद्यथा । यः सुनियमेन पूर्णां विद्यां पठति, स ब्रह्मचर्य्याश्रममसमाप्यापि विद्यातीर्थे स्नाति, स शुद्धो भवति । यस्तु खलु द्वितीयः, यत्पूर्वोक्तं ब्रह्मचर्य्यं सुनियमाचरणेन समाप्य, विद्यामसमाप्य समा-

वर्त्तते, स व्रतस्नातको भवति । यश्च सुनियमेन ब्रह्मचर्य्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्त्तते, सोऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे सम्यक् स्नात्वा, यथावच्छुद्धात्मा, शुद्धान्तःकरणः, सत्यधर्माचारी, परमविद्वान् , सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम् । (नमस्तीर्थ्याय च) तेषु प्राणवेदविज्ञानतीर्थेषु पूर्वोक्तेषु भवः सः तीर्थ्यस्तस्मै तीर्थ्याय परमेश्वराय नमोऽस्तु । ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वोक्तानि प्रचरन्ति व्यवहरन्ति, ये च पूर्वोक्तब्रह्मचर्य्यसेविनो रुद्रा महाबलाः, (सृकाहस्ताः) विद्याविज्ञाने हस्तौ येषां ते, (निषंगिणः) निषंगः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः सङ्गो येषां ते सत्योपदेष्टारः । तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति ब्राह्मणवाक्यात्, उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः । अत एवोक्तस्तीर्थ्य इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थानात्मकत्वात्, परमतीर्थाख्यो, धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात्, परमेश्वर एवास्ति । एतेनैतानि तीर्थानि व्याख्यातानि । (प्रश्नः) यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलादीनि तीर्थानि कुतो न भवन्ति ? । अत्रोच्यते । नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचिद्भवितुमर्हति, तत्र सामर्थ्याभावात्, करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च । जलस्थलादीनि नौकादिभिर्यानैः, पद्भ्यां, बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति । तानि च कर्मकारकान्वितानि भवन्ति, करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि । यदि पद्भ्यां गमनं बाहुबलं न कुर्य्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत्तर्ह्यवश्यं तत्र मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात् । तस्माद्वेदानुयायिनामार्य्याणां मते काशीप्रयागपुष्करगङ्गायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा सिध्यति । किन्तु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः सम्प्रदायस्थैर्जीविकाधीनैर्वेदमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रन्थेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धीकृतानि सन्तीति । ननु, इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गङ्गादिनदीनां वेदेषु, प्रतिपादनं कृतमस्ति त्वया कथं न मन्यते ? । अत्रोच्यते । मन्यते तु मया तासां नदीसंज्ञेति, ता गङ्गादयो नद्यः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति तावत्तासां मान्यं करोमि । न च पापनाशकत्वं दुःखात्तारकत्वं च । कुतः । जलस्थलादीनां तत्सामर्थ्याभावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते नान्यत्रेति । अन्यच्च । इडापिङ्गलासुषुम्णाकूर्म्मनाड्यादीनां गङ्गादिसंज्ञास्तीति । तासां योगसमाधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात् । तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भवत्येव । तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरणमस्तीति तत्र ग्रहणात् । एतन्मन्त्रप्रकरणे परमे-

श्वरस्यानुवर्त्तनात् । एवमेव, (सितासिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति०) एतेन परिशिष्टवचनेन केचिद् गङ्गायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति । सङ्गथे इति पदेन गङ्गायमुनयोः संयोगस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति । तन्न सङ्गच्छते । कुतः । नैव तत्राप्लुत्य स्नानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यलोकं वोत्पतन्ति, गच्छन्ति, किन्तु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः । अत्रापि सितशब्देनेडायाः, असितशब्देन पिङ्गलायाश्च ग्रहणम् । यत्र तु खल्वेतयोर्नाड्योः सुषुम्णायां समागमो मेलनं भवति, तत्र कृतस्नानाः परमयोगिनो, दिवं परमेश्वरं प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पतन्ति सम्यग्गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । अतोऽनयोरेवात्र ग्रहणं न च तयोः । अत्र प्रमाणम् । सितासितमिति वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् ॥ निरु० अ० ९ । खं० २६ ॥ सितं शुक्लवर्णमसितं तस्य निषेधः । तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यादिपृथिव्यादिपदार्थयोर्यत्रेश्वरसामर्थ्ये समागमोऽस्ति तत्र कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्तो दिवं पूर्वोक्तं गच्छन्त्येव ।

भाषार्थ

छठी यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है । लोगों ने मगध देश में एक स्थान है, वहां फल्गु नदी के तीर पाषाण पर मनुष्य के पग का चिह्न बना के उसका विष्णुपद नाम रखदिया है, और यह बात प्रसिद्ध करदी है कि यहां श्राद्ध करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है । जो लोग आंख के अंधे गांठ के पूरे उन के जाल में जा फंसते हैं उनको गयावाले उलटे उस्तरे से खूब हजामत बनाते हैं इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश कराते हैं, वह परधनहरण पेटपालक ठगलीला केवल झूठ ही की गठरी है । जैसा कि सत्यशास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सब को प्रकट हो जावेगा । (प्राण एव बलं०), इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यन्त श्रद्धा से गया-संज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो जाती है । प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी प्राण है और उसका प्रतिपादन करनेवाला गायत्री मंत्र है कि जिसको गया कहते हैं । किसलिए कि उस का अर्थ जानके श्रद्धासहित परमेश्वर की भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है । तथा प्राण का भी नाम गया है उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् ज्ञानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो

जाते हैं । क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है । इसलिए ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम गया है । तथा निघण्टु में घर, सन्तान और प्रजा इन तीनों का नाम भी गया है । मनुष्यों को इन में अत्यन्त श्रद्धा करनी चाहिए । इसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सब के उपकार और उन्नति के कामों की सिद्धि करने में जो अत्यन्त श्रद्धा करनी है उसका नाम गया-श्राद्ध है । तथा अपने सन्तानों को सुशिक्षा से विद्या देना और उनके पालन में अत्यन्त प्रीति करनी इस का नाम भी गयाश्राद्ध है । तथा धर्म से प्रजा का पालन, सुख की उन्नति, विद्या का प्रचार, श्रेष्ठों की रक्षा, दुष्टों को दण्ड देना और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना ये सब मिलकर अथवा पृथक् २ भी गयाश्राद्ध कहाते हैं । इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को छोड़ के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्या कथा बना रक्खी है उस को कभी न मानना और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम विष्णुपद रक्खा है सो सब मूल से ही मिथ्या है । क्योंकि व्यापक परमेश्वर जो सब जगत् का करने वाला है उसी का नाम विष्णु है । देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पृषेत्यथ०) विष्लृ धातु का अर्थ व्यापक होने अर्थात् सब चराचर जगत् में प्रविष्ट रहना वा जगत् को अपने में स्थापन करलेने का है । इसलिये निराकार ईश्वर का नाम विष्णु है । (क्रमु पादविक्षेपे) यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना इस अर्थ को बतलाता है । इस का अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है । अर्थात् भारसहित और प्रकाशरहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरिक्ष में, तथा प्रकाशमान् सूर्य्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में, इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है । फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूढ़ अर्थात् ज्ञानरहित जो जड़ जगत् है वह अन्तरिक्ष अर्थात् पोल के बीच में स्थित है, सो यह केवल परमेश्वर ही की महिमा है कि जिसने ऐसे २ अद्भुत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है । (यदिदं किंच०) इस विष्णुपद के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्वव्यापक परमेश्वर ने बनाकर, (त्रिधा०) इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है, जिससे मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं वह समारोहण कहाता है, सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे है, उस को मनुष्य

लोग प्राण में स्थिर होके प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं, अन्य मार्ग से नहीं। क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह कभी नहीं हो सकता। उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है सो आंख से दीखने योग्य नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल होजाता है तभी वह नेत्रों से देखने में आता है। यह दोनों प्रकार का जगत् जिसके बीच में ठहर रहा है और जो उस में परिपूर्ण हो रहा है ऐसे परमात्मा को विष्णुपद कहते हैं। इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिह्न बनाकर उस का नाम विष्णुपद रख छोड़ा है सो सब मिथ्या बातें हैं। तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जान के अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है, सो ठीक नहीं। क्योंकि जो २ सत्य तीर्थ हैं वे सब नीचे लिखे जाते हैं। देखो तीर्थ नाम उनका है कि जिनसे जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हों। अर्थात् जो २ वेदादिशास्त्रप्रतिपादित तीर्थ हैं तथा जिन का आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है, जो कि जीवों को दुःखों से छुड़ा के उनके सुखों के साधन हैं उनही को तीर्थ कहते हैं। वेदोक्त तीर्थ ये हैं, (तीर्थमेव प्राय०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्य्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है उसको तीर्थ कहते हैं। क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टिजल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है। इस कारण उन कर्मों के करने वाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है। तथा (अहिंᳬसन०) सब मनुष्यों को इस तीर्थ का सेवन करना उचित है कि अपने मन से वैरभाव को छोड़ के सब के सुख करने में प्रवृत्त होना और किसी संसारी व्यवहार के वर्त्तावों में दुःख न देना। परन्तु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः०) जो २ व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं उन के करने में दण्ड का होना अवश्य है। अर्थात् जो २ मनुष्य अपराधी, पाखण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं। इससे वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम तीर्थ है कि जिनके पढ़ने पढ़ाने और उन में कहे हुए मार्गों में चलने से मनुष्य लोग दुःखसागर को तर के सुखों को प्राप्त होते हैं। (समानतीर्थे०), इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादिशास्त्रों को पढ़ानेवाला जो आचार्य्य है उसका, वेदादि शास्त्रों तथा मात पिता और अतिथि का भी नाम तीर्थ है। क्योंकि उनकी सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध होकर दुःखों से पार होजाता है।

इससे इन का भी तीर्थ नाम है । (त्रयः स्नातका०), इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं, एक तो वह कि उत्तम नियमों से वेदविद्या को पढ़ के ब्रह्मचर्य को विना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूरा कर के ज्ञानरूपी तीर्थ में स्नान कर के शुद्ध हो जाता है, दूसरा जो कि पच्चीस, तीस, छत्तीस, चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्य्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य को समाप्त करके और विद्या को विना समाप्त किये भी विवाह करता है वह व्रतस्नातक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य्यतीर्थ में स्नान करके शुद्ध हो जाता है, और तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादिशास्त्रविद्या को समाप्त करके समावर्त्तन अर्थात् उसी के फलरूपी उत्तम तीर्थ में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्रदेह, शुद्ध अन्तःकरण, श्रेष्ठविद्या बल और परोपकार को प्राप्त होता है । (नमस्तीर्थ्याय०), उक्त तीर्थों से प्राप्त होने वाला परमेश्वर भी तीर्थ ही है, उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है । जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना पढ़ाना और सत्यकथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं तथा जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम सेवन करते हैं वे बड़े बल वाले होकर रुद्र कहाते हैं । (सृकाहस्ता०) जिन के सृका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषङ्ग संशय की काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है वे सत्य के उपदेशक भी रुद्र कहाते हैं । तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है उस को परमतीर्थ कहते हैं । क्योंकि उसी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं । (प्रश्न) जिनसे मनुष्य लोग तर जाते हैं अर्थात् जल और स्थानविशेष वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते ? (उत्तर) नहीं, क्योंकि उन में तारने का सामर्थ्य ही नहीं और तीर्थ शब्द करणकारकयुक्त लिया जाता है । जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं उन में नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं । इससे जल वा स्थल तारने वाले कभी नहीं हो सकते, किसलिये कि जो जल में हाथ वा पग न चलावें वा नौका आदि पर न बैठें तो कभी नहीं तर सकते । इस युक्ति से भी काशी, प्रयाग, गङ्गा, यमुना, समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते । इस कारण से सत्यशास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं उन्हीं को मानना चाहिये, जल और स्थानविशेष को नहीं । (प्रश्न) (इमं मे गङ्गे) यह मन्त्र गङ्गा आदि नदियों को तीर्थ विधान करने वाला है फिर इन को तीर्थ क्यों नहीं मानते ? । (उत्तर) हम लोग उनको नदी मानते हैं और उन के जल में जो २ गुण हैं उन को भी मानते हैं, परन्तु पाप छुड़ाना और दुःखों से तारना यह उनका सामर्थ्य

नहीं, किन्तु यह सामर्थ्य तो पूर्वोक्त तीर्थों में ही है। तथा इस मन्त्र में गङ्गा आदि नाम इडा, पिङ्गला, सुषुम्णा, कूर्म्म और जाठराग्नि की नाड़ियों के हैं, उन में योग्याभ्यास से परमेश्वर की उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं। क्योंकि उपासना नाड़ियों ही के द्वारा धारण करनी होती है। इस हेतु से इस मन्त्र में उनकी गणना की है। इसलिये उक्त नामों से नाड़ियों का ही ग्रहण करना योग्य है। (सितासिते०) सित इडा और असित पिङ्गला, ये दोनों जहां मिली हैं उस को सुषुम्णा कहते हैं। उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं। फिर शुद्धरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं। इस में निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं। इस अभिप्राय से विरुद्ध मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है।

तथैव यत्तन्त्रपुराणादिग्रन्थेषु मूर्त्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम्। कुतः। वेदादिषु सत्येषु ग्रन्थेषु तस्य विधानाभावात्। तत्र तु प्रत्युत निषेधो वरीवर्तते। तद्यथा—

न तस्य॑ प्रति॒मा अ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑। हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भ इत्ये॒ष मा मा॑ हिꣳसी॒दित्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒त इत्ये॒षः ॥ १ ॥ यजुः० अ० ३२। मं० ३ ॥

भाष्यम्

यस्य पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य (महद्यशः) यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्त्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणादिकर्त्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति, (हिरण्यगर्भः०) यो हिरण्यानां सूर्य्यादीनां तेजस्विनां गर्भ उत्पत्तिस्थानम्। यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मा मा हिꣳसीदित्येषा प्रार्थना कार्य्या। (यस्मान्न०) यो यतः कारणान्नैवैषः कस्यचित्सकाशात्कदाचिदुत्पन्नो, नैव कदाचिच्छरीरधारणं करोति। नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः, प्रतिकृतिः, प्रतिमानं, तोलनसाधनं, परिमाणं, मूर्त्यादिकल्पनं किञ्चिदप्यस्ति, परमेश्वरस्यानुपमेयत्वादमूर्त्तत्वादपरिमेयत्वान्निराकारत्वात्सर्वत्राभिव्याप्तत्वाच्च। इत्यनेन प्रमाणेन मूर्त्तिपूजननिषेधः।

स पर्य्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्नावि॒रꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम्। क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒तोऽर्था॒न् व्य॑दधाच्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥ २ ॥ य० अ० ४० । मं० ८ ॥

भाष्यम्

यः कविः सर्वज्ञः, मनीषी सर्वसाक्षी, परिभूः सर्वोपरिविराजमानः, स्वयम्भूरनादिस्वरूपः परमेश्वरः, शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः, समाभ्यः प्रजाभ्यो, वेदद्वाराऽन्तर्यामितया च याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् विहितवानस्ति, स पर्य्यगात्सर्वव्यापकोस्ति । यत् (शुक्रम्) वीर्य्यवत्तमम्, (अकायम्) मूर्त्तिजन्मधारणरहितम्, (अव्रणम्) छेदभेदरहितम्, (अस्नाविरम्) नाडीबन्धनादिविरहम्, (शुद्धम्) निर्दोषम्, (अपापविद्धम्) पापात्पृथग्भूतं, यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वैरुपासनीयमिति मन्यध्वम् । इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते, तस्मादयं नैव केनापि मूर्त्तिपूजने योजयितुं शक्य इति (प्रश्नः) वेदेषु प्रतिमाशब्दोस्ति न वा ? । (उत्तरम्) अस्ति । (प्र०) पुनः किमर्थो निषेधः ? । (उ०) नैव प्रतिमार्थेन मूर्त्तयो गृह्यन्ते । किं तर्हि, परिमाणार्था गृह्यन्ते । अत्र प्रमाणानि ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्र्युपास्महे । सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ३ । अनु० २ । सू० १० । मं० ३ ॥ मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येतावन्तो हि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ॥ श० कां० १० । अ० ४ । ब्रा० ३ । कं० २० ॥ यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ १ ॥ सामवेदीयतवलकारोपनिषदि । खण्ड० १ । मं० ४ ॥

भाष्यम्

इत्यादिमन्त्रपञ्चकमूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम् । विद्वांसः संवत्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपासते वयमपि त्वां तामेवोपास्महे । अर्थाद्याः संवत्सरस्य त्रीणि शतानि षष्टिश्च रात्रयो भवन्ति, यत एताभिरेव संवत्सरः परिमीयते, तस्मादेतासां प्रतिमासंज्ञेति । यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां संसृज सम्यक् सृजेत्, तथैव सर्वैर्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति । (मुहूर्त्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौशतानि घटिकाद्वयात्मका मुहूर्ताः सन्ति तेऽपि प्रतिमाशब्दार्था विज्ञेयाः । (यद्वाचा०) यदसंस्कृतवाण्या अविषयं, येन वाणी विदितास्ति, तद् ब्रह्म हे मनुष्य ! त्वं विद्धि । यत् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवैतद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो, यन्निराकारं, सर्वव्यापकमजं, सर्वनियन्तृ, सच्चिदानन्दादिलक्षणं

ब्रह्मोपासते, त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति । (प्र०) किञ्च भोः, मनुस्मृतौ, प्रतिमानां च भेदकः । देवतान्यभिगच्छेत्तु । दैवताऽभ्यर्चनं चैव । देवतानां च कुत्सनम् । देवतायतनानि च । देवतानां छायोल्लंघननिषेधः । प्रदक्षिणानि कुर्वीत देवब्राह्मणसन्निधौ । देवतागारभेदकान् । उक्तानामेतेषां वचनानां का गतिरिति ? । (उ०) अत्र प्रतिमाशब्देन रक्तिकामाषसेटकादीनि तोलनसाधनानि गृह्यन्ते । तद्यथा । तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ॥ मनु० अ० ८ । श्लोकः ४०३ । इत्यनया मनुक्तरीत्यैव प्रतिमाप्रतीमानशब्दयोरेकार्थत्वात्तोलनसाधनानि गृह्यन्त इति बोध्यम् । अत एव प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यत्राधीयतेऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि दैवतानीत्युच्यते । देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि दैवतानि, देवतायतनानि च सन्तीति बोध्यम् । विदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्त्तव्यमिति । नैवैतेषां केनचिदपि निन्दा छायोल्लंघनं स्थानविनाशश्च कर्त्तव्यः । किन्तु सर्वैरेतेषां सामीप्यगमनं, न्यायप्रापणं, दक्षिणपार्श्वे स्थापनं, स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति । एवमेव यत्र यत्रान्यत्रापि प्रतिमादेवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति तत्र तत्रैवमर्था विज्ञेयाः । ग्रन्थभूयस्त्वभिया नात्र ते लेखितुं शक्या इति । एतावतैव मूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ।

भाषार्थ

अब इस के आगे जो नवीन कल्पित तन्त्र और पुराण ग्रन्थ हैं, उन में पत्थर आदि की मूर्त्तिपूजा, तथा नाना प्रकार के नामस्मरण अर्थात् राम २, कृष्ण २, काष्ठादि माला, तिलक इत्यादि का विधान करके, उन को अत्यन्त प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रक्खे हैं, ये सब बातें भी मिथ्या ही जानना चाहिये । क्योंकि वेदादि सत्य ग्रन्थों में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता है, किन्तु उन का निषेध ही किया है । जैसे (न तस्य०) पूर्ण जो किसी प्रकार से कम नहीं, (अज) जो जन्म नहीं लेता और (निराकार) जिस की किसी प्रकार की मूर्ति नहीं, इत्यादि लक्षणयुक्त जो परमेश्वर है, जिस की आज्ञा का ठीक २ पालन और उत्तम कीर्त्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं उनका करना ही जिस का नामस्मरण कहाता है । (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेजवाले सूर्य्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है, जिस की प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि (मामाहिꣳसी०) हे परमात्मन् ! हम लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये । कोई कहे कि इस निरा-

कार, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये ? तो उत्तर यह है कि (यस्मान्न०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न हुआ, न होता और न होगा, और न वह कभी शरीर धारण करके बालक, जवान और वृद्ध होता है, (न तस्य०) उस परमेश्वर की प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिविम्ब वा सदृश अर्थात् जिस को तसवीर कहते हैं सो किसी प्रकार नहीं है। क्योंकि वह मूर्तिरहित, अनन्त, सीमारहित और सब में व्यापक है। इस से निराकार की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये। कदाचित् कोई शङ्का करे कि शरीरधारी की उपासना करने में क्या दोष है तो यह बात समझना चाहिये कि जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा और फिर वह वृद्ध होकर मर जायगा तब किस की पूजा करोगे। इस प्रकार मूर्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध होगया। तथा (स पर्य्यगाच्छु०), जो परमेश्वर (कविः) सब का जानने वाला, (मनीषी) सब के मन का साक्षी, (परिभूः) सब के ऊपर विराजमान और (स्वयंभूः) अनादिस्वरूप है, जो अपनी अनादिस्वरूप प्रजा को अन्तर्यामिरूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है, (स पर्य्यगात्) सो सब में व्यापक, (शुक्रम्) अत्यन्त पराक्रम वाला, (अकायं) सब प्रकार के शरीर से रहित, (अव्रणं) कटना और सब रोगों से रहित, (अस्नाविरं) नाड़ी आदि के बन्धन से पृथक्, (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्धं) सब पापों से न्यारा इत्यादि लक्षणयुक्त परमात्मा है वही सबको उपासना के योग्य है ऐसा ही सबको मानना चाहिये। क्योंकि इस मन्त्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया। इससे इस की पत्थर आदि की मूर्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता। (संवत्सरस्य०) विद्वान लोग संवत्सर की जिस (प्रतिमां०) क्षण आदि काल के विभाग करने वाली रात्रि की उपासना करते हैं हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० (तीनसौ साठ) रात्रि होती हैं इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है। इसलिये इन रात्रियों की भी प्रतिमा संज्ञा है। (सा न आयु०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक संपूर्ण आयुयुक्त सन्तानों को उत्पन्न करें। इसी मंत्र का भावार्थ कुछ शतपथ ब्राह्मण में भी है कि (मुहूर्त्ता०) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं, ये भी प्रतिमा शब्द के अर्थ में समझने चाहियें। क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होता है। (यद्वाचा) जो कि अविद्यायुक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता, जो सब की

वाणियों को जानता है, हे मनुष्यो ! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो और न कि मूर्त्तिमान् जगत् के पदार्थों को, जो कि उस के रचे हुए हैं। अर्थात् निराकार, व्यापक, सब पदार्थों का नियम करने वाला और सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म है, उसी की उपासना तुम लोग करो, यह उपनिषत्कार ऋषियों का मत है । (प्रश्न) क्योंजी मनुस्मृति में जो (प्रतिमानां०) इत्यादि वचन हैं, उनसे तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े उस को राजा दण्ड देवे, तथा देवताओं के पास जाना, उनकी पूजा करना, उनकी छाया का उल्लंघन नहीं करना और उनकी परिक्रमा करना इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्त्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है फिर आप कैसे नहीं मानते हैं ? । (उत्तर) क्यों भ्रम में पड़े हुए हो, होश में आओ और आंख खोल कर देखो कि प्रतिमा शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्त्ति लेते हो सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है। क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमाशब्द करके (तुलामानं) रत्ती, छटांक, पाव, सेर और पसेरी आदि तोल के साधनों को ग्रहण किया है । क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और प्रतिमान वा प्रतिमा अर्थात् बाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे २ मास अर्थात् छः २ महीने में एक वार किया करें कि जिससे उन में कोई व्यावहारी किसी प्रकार की छल से घट बढ़ न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उस को दण्ड देवें । फिर (देवताभ्यर्चनं०) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम देव कहा है । अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् लोग पढ़ते पढ़ाते और निवास करते हैं उन स्थानों को दैवत कहते हैं । वहां जाना, बैठना और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को अवश्य करने चाहियें । (देवतानां च कुत्सनं) उन विद्वानों की निन्दा, उन का अपमान और उनके स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ व उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करनी चाहियें । किन्तु (दैवतान्यभि०) सब मनुष्यों को उचित है कि उन के समीप जाकर अच्छी २ बातों को सीखा करें । (प्रदक्षिणा०) उन को मान्य के के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना, क्योंकि यह नियम उनकी प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है । ऐसे अन्यत्र भी जहां कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उन के स्थानों का वर्णन हो इसी प्रकार निर्भ्रमता से वहां समझ लेना चाहिये । यहां सब का संग्रह इसलिये नहीं किया कि ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता । ऐसा ही सत्य शास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझ कर मन, कर्म, वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है ।

एवमेव सूर्य्यादिग्रहपीडाशान्तये बालबुद्धिभिराकृष्णेन रजसेत्यादि मन्त्रा गृह्यन्ते । अयमेषां भ्रम एवास्तीति । कुतस्तत्र तेषामर्थानामग्रहणात् । (तद्यथा)

[illegible]

पत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति ।

अ॒ग्निर्मू॒र्द्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्या अ॒यम् । अ॒पाᳬरेताᳬसि जिन्वति ॥ १ ॥ य० अ० ३ । मं० १२ ॥ उद्बु॑ध्यस्वाग्ने॒ प्रति॑ जागृहि॒ त्वमि॑ष्टापू॒र्त्ते सᳬ सृ॑जेथाम॒यं च॑ । अ॒स्मिन्त्स॒धस्थे॒ अध्युत्त॑रस्मि॒न् विश्वे॑ दे॒वा यज॑मानश्च सीदत ॥ २ ॥ य० अ० १५ । मं० ५४ ॥

भाष्यम्

(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा, (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य, (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च, (पतिः) पालयितास्ति । (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः (ककुत्) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति । व्यत्ययो बहुलमिति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः । (अपाᳬ रेताᳬसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रेतांसि वीर्य्याणि (जिन्वति) पुष्णाति । एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्य्यरूपेण च पूर्वोक्तस्य रक्षकः पुष्टिकर्त्ता चास्ति ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) । हे अग्ने परमेश्वरास्माकं हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव । (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रातस्सर्वान् जीवान् पृथक्कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु । (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्त्तिं सृजेत् समुत्पादयेत् । त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः । एवं परस्परं द्वयोः सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्त्ते संसृष्टे भवेताम् । (अस्मिन्त्सधस्थे) अस्मिन् लोके शरीरे च, (अध्युत्तरस्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च, (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो, यजमानो विद्वत्सेवाकर्त्ता च, कृपया सदा सीदन्तु वर्त्तन्ताम् । यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयुरिति । व्यत्ययो बहुलमित्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः ।

भाषार्थ

इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यों ने 'आकृष्णेन रजसा०' इत्यादि मन्त्रों का सूर्य्यादिग्रहपीड़ा की शांति के लिये ग्रहण किया है । सो उनको केवल भ्रममात्र हुआ है । मूल अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं । क्योंकि उन मन्त्रों में ग्रहपीड़ा निवारण करना

यह अर्थ ही नहीं है । (आकृष्णेन०) इस मन्त्र का अर्थ आकर्षणानुकर्षण प्रकरण में तथा (इमं देवा०) इसका अर्थ राजधर्मविषय में लिख दिया है ॥ १ । २ ॥ (अग्निः) यह जो अग्निसंज्ञक परमेश्वर वा भौतिक है वह (दिवः) प्रकाश वाले और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का पालन करने वाला, तथा (मूर्धा) सब पर विराजमान और (ककुत्पतिः) दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है । (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (ककुभ्) शब्द के दकार को मकारादेश हो गया है । (अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्य्यों को पुष्ट करता है । इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य्यरूप से पूर्वोक्त पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) हे परमेश्वर ! हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये, (प्रति जागृहि) अविद्या की अन्धकार-रूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य्य के प्रकाश से प्रकाशमान कीजिये, कि जिससे (त्वमिष्टापूर्त्ते) हे भगवन् ! मनुष्यदेह धारण करने वाला जो जीव है जैसे वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सामग्री की पूर्त्ति कर सके वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये । (अस्मिन्सधस्थे) इस लोक और इस शरीर तथा (अध्युत्तरस्मिन्) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत) आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान अर्थात् विद्या के उपदेश का ग्रहण और सेवा करने वाले मनुष्य लोग सुख से वर्त्तमान सदा बने रहें कि जिससे हम लोग विद्यायुक्त होते रहें । (व्यत्ययो बहुलम्) इस सूत्र से (संसृजेथाम्) (सीदत) इन प्रयोगों में पुरुषव्यत्यय अर्थात् प्रथमपुरुष की जगह मध्यम पुरुष हुआ है ॥ ४ ॥

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु । यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् ॥ ५ ॥ य० अ० २६ । मं० ३ ॥ अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत्क्षत्रम्पयः सोमं प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धसः । इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ६ ॥ यजुः० अ० १९ । मं० ७५ ॥

भाष्यम्

(बृहस्पते) हे बृहतां वेदानां पते पालक ! (ऋतप्रजात) वेदविद्याप्रतिपादित जगदीश्वर ! त्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्तरेषु वा, (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत्, (द्युमत्) सत्यव्यवहारप्रकाशो

विद्यते यस्मिंस्तत्, (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं, शवसो बलस्य प्रापकं, (यदर्य्यो अर्हात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन् (अर्य्यः) स्वामी राजा, वणिग्जनो वा धार्मिकेषु जनेषु (विभाति) प्रकाशते, (चित्रं) यद्भुनमद्भुतं (अस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृपया धेहीत्यनेम मन्त्रेणेश्वरः प्रार्थ्यते ॥ ५ ॥ (क्षत्रं) यत्र यद्राजकर्म, क्षत्रियो वा (ब्रह्मणा) वेदविद्भिश्च सह (पयः) अमृतात्मकं (सोमं) सोमाद्योषधिसम्पादितं (रसं) बुद्ध्यानन्दशौर्य्यधैर्य्यबल-पराक्रमादिसद्गुणप्रदं (व्यपिबत्) पानं करोति, तत्र स सभाध्यक्षो राजन्यः, (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन, (सत्यं) धर्मं राजव्यवहारं च, (इन्द्रियं) शुद्ध-विद्यायुक्तं शान्तं मनः, (विपानं) विविधराजधर्मरक्षणं, (शुक्रं) आशुसुखकरं (अन्धसः) शुद्धान्नस्येच्छाहेतुं (पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं (अमृतं) मोक्षसाधकं (मधु) मधुरं सत्यशीलस्वभावयुक्तं (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामिन ईश्वरस्य कृपया (इन्द्रियं) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य, (इदं) सर्वं व्यावहारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति । (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञा-पयति यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत्, स एवं प्रजापालनं कुर्य्यात् । (अन्नात्परिस्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद्भोज्यात्पदार्थात्परितः सर्वतः स्रुतश्च्युतो युक्तो वा कार्य्यः । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येत्तथैव क्षत्रियेण कर्त्तव्यम् ।

भाषार्थ

(बृहस्पते) हे वेदविद्यारक्षक ! (ऋतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जगदीश्वर ! आप (तदस्मासु द्रविणं धेहि) जो सत्यविद्यारूप अनेक प्रकार का (चित्रं) अद्भुत धन है सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये । कैसा वह धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोक लोकान्तरों में (क्रतुमत्) जिससे बहुतसे यज्ञ किये जायं, (द्युमत्) जिस से सत्य व्यवहार के प्रकाश का विधान हो, (शवसः) बल की रक्षा करने वाला और (दीदयत्) धर्म और सब के सुख का प्रकाश करने वाला, तथा (यदर्य्यो०) जिस को धर्मयुक्त योग्य व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त होकर (विभाति) धर्मव्यवहार अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है उस सम्पूर्णविद्यायुक्त धन को हमारे बीच में निरन्तर धारण कीजिये । ऐसे इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है ॥ ५ ॥ (क्षत्रं) जो राजकर्म अथवा क्षत्रिय है वह सदा न्याय से (ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन

करे। इसी प्रकार (पयः) जो अमृतरूप (सोमं) सोमलता आदि ओषधियों का सार तथा (रसं) जो बुद्धि, आनन्द, शूरता, धीरज, बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढ़ाने वाला है, उन को (व्यपिबत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्थ लोग वैद्यकशास्त्र की रीति से पीते हैं, वे सभासद् और प्रजास्थ मनुष्य लोग, (ऋतेन) वेदविद्या को यथावत् जान के, (सत्यं) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (इन्द्रियं) शुद्ध-विद्यायुक्त शान्तस्वरूप मन, (विपानं) यथावत् प्रजा का रक्षण, (शुक्रम्) शीघ्र सुख करने हारा (अन्धसः) शुद्ध अन्न की इच्छायुक्त (पयः) सब पदार्थों का सार, विज्ञानसहित (अमृतं) मोक्ष के ज्ञानादि साधन, (मधु) मधुरवाणी और शीलता आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं, (इदं) उन सब से परिपूर्ण होकर, (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्ययुक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से, (इन्द्रियं) विज्ञान को प्राप्त होते हैं। (प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता है कि तुम लोग पूर्वोक्त व्यवहार और विज्ञानविद्या को प्राप्त होके धर्म से प्रजा का पालन किया करो और (अन्नात्परिस्रुतः) उक्त अमृतस्वरूप रस को उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिलाकर सेवन किया करो कि जिस से प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥ ६ ॥

शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शंयोर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ ७ ॥ य० अ० ३६। मं० १२। कया॑ नश्चि॒त्र आ भु॑वदू॒ती स॒दावृ॑धः॒ सखा॑। कया॒ शचि॑ष्ठया * वृ॒ता ॥ ८ ॥ य० अ० ३६। मं० ४ ॥ के॒तुं कृ॒ण्वन्न॑के॒तवे॒ पेशो॑ मर्या अपे॒शसे॑। समु॒षद्भि॑रजायथाः ॥ ९ ॥ य० अ० २९। मं० ३७ ॥

भाष्यम्

(आप्लृ व्याप्तौ) अस्माद्धातोरप्शब्दः सिध्यति। स नियतस्त्रीलिङ्गो बहु-वचनान्तश्च। दिवु क्रीडाद्यर्थः। (देवीः) देव्य आपः, सर्वप्रकाशकः सर्वानन्द-प्रदः सर्वव्यापक ईश्वरः, (अभीष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्द-भोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शं) कल्याणकारिका भवन्तु स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरो, नोऽस्माकमुपरि, (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु ॥ अत्र प्रमाणम् ॥

* शचिष्ठयेति मान्त्रः पाठः ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः । असच्च यत्र सच्चा-न्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व० कां० १० । अ० ४ । सू० ७ । मं० १० ॥

भाष्यम्

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्छब्देन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते । तद्यथा । (आपो ब्रह्म जना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति । (यत्र लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन् परमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निधींश्च, (असच्च यत्र सच्च) यस्मिंश्चानित्यं कार्य्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोस्ति विद्वँस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते । (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामाभ्यन्तरेऽन्तर्य्यामिरूपेणावस्थितोस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ७ ॥ (कया) उपासनारीत्या (सचिष्ठया) अतिशयेन सत्कर्मानुष्ठानप्रकारया, (वृता) शुभगुणेषु वर्त्तमानया, (कया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः, (चित्रः) अद्भुतानन्तशक्तिमान्, (सदावृधः) सदानन्देन वर्धमान इन्द्रः परमेश्वरः, (नः) अस्माकं सखा मित्रः, (आभुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (ऊती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणेनास्माकं रक्षको भवत् । तथैवास्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीय इति ॥ ८ ॥ हे मर्य्या मनुष्याः ! उषद्भिः परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्त्तमानैर्विद्वद्भिर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव (अकेतवे) अज्ञानविनाशाय केतुं प्रज्ञानम्, (अपेशसे) दारिद्र्यविनाशाय पेशः चक्रवर्त्तिराज्यादिसुखसम्पादकं धनं च कृण्वन् कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजायथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ९ ॥

भाष्यम्

(शन्नो देवी०) आप्लृ व्याप्तौ, इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है । सो वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है । तथा जिस दिवु धातु के क्रीड़ा आदि अर्थ हैं उससे देवी शब्द सिद्ध होता है । (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सब को आनन्द देने वाला, (आपः) सर्वव्यापक है, (अभीष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (नः) हमको सुखी होने के लिये (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो । वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे । इस मन्त्र में आप् शब्द से परमात्मा के ग्रहण

होने में प्रमाण यह है कि (आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि आप् परमात्मा का नाम है । (प्रश्न) (यत्र लोकांश्च कोशांश्च), सुनो जी ! जिसमें पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित (असच्च यत्र सच्च) तथा जिस में अनित्य कार्य जगत् और सब वस्तुओं के कारण ये सब स्थित हो रहे हैं, (स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः) वह सब लोकों को धारण करने वाला कौन पदार्थ है ? (उत्तर) (अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अन्तर्यामिरूप से परिपूर्ण भर रहा है ऐसा जान कर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ॥ ७ ॥ (कया) जो किस उपसानारीति (सचिष्ठया) और सत्यधर्म के आचरण में सभासद् सहित (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान (कया) सुखरूप वृत्तिसहित सभा से प्रकाशित (चित्रः) अद्भुतस्वरूप (सदावृधः) आनन्दस्वरूप और आनन्द बढ़ाने वाला परमेश्वर है वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो, (ऊतिः) तथा किस प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करे कि (उषद्भिः समजायथाः) हे अग्ने जगदीश्वर ! आप की आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं और जिन धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ॥ ८ ॥ हे विज्ञानस्वरूप ! अज्ञान के दूर करने हारे ब्रह्मन् ! आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये तथा (अकेतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ विज्ञान धन और चक्रवर्त्ति राज्य धर्मात्माओं को देते रहिये कि जिससे (मर्याः) जो आपके उपासक लोग हैं वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ॥ ९ ॥

अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारोस्त्याहोस्विन्नेति ? । सर्वेषामस्ति, वेदानामीश्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यविद्याप्रकाशकत्वाच्च । यद्धि खलु परमेश्वररचितं वस्त्वस्ति तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः । अत्र प्रमाणम् ॥

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्याᳫं शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय । प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥ १ ॥ य० अ० २६ । मन्त्र २ ॥

भाष्यम्

अस्याभिप्रायः। परमेश्वरः सर्वमनुष्यैर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या इत्याज्ञां ददाति। तद्यथा। (यथा) येन प्रकारेण, (इमाम्) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं, (कल्याणीम्) कल्याणसाधिकां (वाचम्) वाणीं, (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्योऽर्थात् सकलजीवोपकाराय, (आवदानि) आसमन्तादुपदिशानि, तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयी वागुपदेष्टव्येति। अत्र कश्चिदेवं ब्रूयात्। जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्य्यं, वेदाध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात्। नैवं शक्यम्। उत्तरमन्त्रभागार्थविरोधात्। तद्यथा। कस्य कस्य वेदाध्ययनश्रवणेऽधिकारोस्तीत्याकांक्षायामिदमुच्यते, (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां, (अर्य्याय) वैश्याय, (शूद्राय), (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय, स्वाय स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय च। सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयी श्राव्येति। (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०)। यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय, सर्वोपकारकरणेन सह वर्त्तमानः सन्, देवानां विदुषां प्रियः, दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च (भूयासम्) स्याम्, तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्वप्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणी श्राव्येति। यथायं मे मम कामः समृध्यते तथैवैवं कुर्वतां भवतां (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम्। यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति। (उपमादो नमतु) तथैव भवतोऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु सम्यक् प्राप्नोत्विति। मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम्। यथा मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्त्तव्या, नात्र वैषम्यं किञ्चित् कर्त्तव्यमिति। कुतः। यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपातरहिता च प्रवृत्तिरस्ति, तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति, नान्यथेति। अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोस्ति। कुतः। बृहस्पते अतियदर्य इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात्।

भाषार्थ

(प्रश्न) वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने, सुनने और सुनाने में सब मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं ?। (उत्तर) सब का है। क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है उस में किसी का अनधिकार नहीं हो सकता। देखिये कि जो २ पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं सो २ सब के उपकारार्थ हैं। (प्रश्न) वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल

तीन वर्णों को ही है, क्योंकि शूद्रादि को वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही को अधिकार है । (उत्तर) यह बात सब मिथ्या है । इसका विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं । वहां यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र और अतिमूर्ख का नाम अतिशूद्र है । उन के पढ़ने पढ़ाने का निषेध इसीलिये किया है कि उनको विद्याग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है । (प्र०) परन्तु क्या सब स्त्री पुरुषों को वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने का अधिकार है ? । (उ०) सब को है । देखो इसमें यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं, (यथेमां वाचं कल्याणीं०) । इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उन के पढ़ाने का । इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो ! जिस प्रकार मैं तुमको चारों वेदों का उपदेश करता हूं उसी प्रकार से तुम भी उनको पढ़ के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो । क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सब की कल्याण करने वाली है । तथा (आवदानी जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूं वैसे ही सदा तुम भी किया करो । (प्रश्न) (जनेभ्यः) इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जहां कहीं सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है वहां केकल द्विजों ही का ग्रहण किया है ? । (उत्तर) यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता तो मनुष्यमात्र को उनके पढ़ने का अधिकार कभी न देता । जैसा कि इस मन्त्र में प्रत्यक्ष विधान है (ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय), अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मणवर्ण के लिये है वैसा ही क्षत्रिय, अर्य्य, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य और अतिशूद्र के लिये भी बराबर है, क्योंकि वेद ईश्वरप्रकाशित है । जो विद्या का पुस्तक होता है वह सब का हितकारक है और ईश्वररचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं । इसलिये उस का जानना सब मनुष्यों को उचित है, क्योंकि वह माल सब के पिता का सब पुत्रों के लिये है । किसी वर्णविशेष के लिये नहीं । (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्यविद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासं) जैसे दानी वा शीलमान् पुरुष को प्रिय होता है । वैसे ही तुम लोग भी पक्षपातरहित होकर वेदविद्या को सुना कर सब को प्रिय हो । (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचाररूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है

इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो कि जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे । (उपमादो नमतु) जैसे मुझ में अनन्त विद्या से सब सुख हैं वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा उस को भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा । यही इस मन्त्र का अर्थ ठीक है । क्योंकि इससे अगले मन्त्र में भी (बृहस्पते अति यदर्य्य०) परमेश्वर ही का ग्रहण किया है । इससे सब के लिये वेदाधिकार है ॥ १ ॥

वर्णाश्रमा अपि गुणकर्माचारतो हि भवन्ति । अत्राह मनुः ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ १ ॥

मनु० अ० १० । श्लो० ६५ ॥

भाष्यम्

शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्राप्नोति, योऽस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव । एवमेव कुचर्य्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम् । अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेवापस्तम्बसूत्रेप्यस्ति ।

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥१॥ अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥ प्रश्न २ । पटल० ५ । खं० ११ । सू० १० । ११ ॥

भाष्यम्

सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो, वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः । जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति ॥ १ ॥ एवमेव स लक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो, जघन्यं स्वस्मादधःस्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत् । अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति । एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेश्चेति । यत्र यत्र शूद्रो नाध्यापनीयो न श्रावणी-

यच्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः, शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वाद्विद्यापठनधारणविचारासमर्थत्वात्तस्याध्यापनं श्रावणं व्यर्थमेवास्ति, निष्फलत्वाच्चेति ।

भाषार्थ

वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुण कर्मों के आचारविभाग से होती है । इस में मनुस्मृति का भी प्रमाण है कि (शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है, अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता है तथा जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुणवाला हो तो वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो जाता है । वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता है और जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है । वैसे ही क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना । जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार को कैसे प्राप्त हो सकता । इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों का अधिकार ठीक २ होता है, क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुद्धि बढ़ती है । इसलिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक २ परीक्षा करके वर्णाधिकार होना उचित है ॥ १ ॥ तथा आपस्तम्बसूत्र में भी ऐसा लिखा है (धर्मचर्य्यया०), अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व २ वर्ण के अधिकार को प्राप्त हो जाते हैं । सो केवल कहने ही मात्र को नहीं किन्तु जिस २ वर्ण को जिन २ कर्मों का अधिकार है उन्हीं के अनुसार (आपद्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ (अधर्मचर्य्यया०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व २ वर्ण नीचे २ के वर्णों के अधिकारों को प्राप्त होते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के पढ़ने सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ।

इति संक्षेपतोऽधिकारानधिकारविषयः

अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

तत्रादौ पठनस्यारम्भे शिक्षारीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाक्षरोच्चारणोपदेशः कर्त्तव्यः। येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात्। तद्यथा। प इत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्य्यम्। अस्यौष्ठौ स्थानं, स्पृष्टः प्रयत्न इति वेद्यम्। एवमेव सर्वत्र। अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहामुनिराह।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ १॥ महाभा० अ० १। पा० १। आ० १॥

भाष्यम्

नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृतेऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः पदानां लालित्यं च भवति। यथा गानकर्त्ता षड्जादिस्वरालापेनान्यथोच्चारणं कुर्य्याच्चेत्स तस्यैवापराधो भवेत्। तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्त्तव्यम्। अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदोऽनर्थकश्च भवति। यथावदुच्चारणमुल्लंघ्योच्चारिते शब्दे वक्तुरपराध एव विज्ञायते। त्वं मिथ्याप्रयोगं कृतवानिति। नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्तमभिप्रेतमर्थमाह। तद्यथा। सकलम्, शकलम्। सकृत्, शकृदिति। सकलशब्दः सम्पूर्णार्थवाची। शकल इति खण्डवाची च। एवं सकृदित्येकवारार्थवाची। शकृदिति मलार्थवाची चात्र। सकारोच्चारणे कर्त्तव्ये शकारोच्चारणं क्रियते चेदेवं सकारोच्चारणे कर्त्तव्य सकारोच्चारणं च, तदा स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते। स वाग्वज्रो भवति। यमर्थम्मत्वोच्चारणं क्रियते स शब्दस्तमभिप्रायनाशको भवति। तद्वक्तारं यजमानं तदधिष्ठातारं च हिनस्ति, तेनार्थेन हीनं करोति। यथेन्द्रशत्रुरयं शब्दः स्वरस्यापराधाद्विपरीतफलो जातः। तद्यथा। इन्द्रः सूर्य्यलोकस्तस्य शत्रुरिव मेघः। अत्र इन्द्रशत्रुशब्दे तत्पुरुषसमासार्थमन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तकरणाद् बहुव्रीहिः समासः कृतो भवति। अस्मिन् विषये तुल्ययोगितात्व(ल)ङ्कारेण मेघसूर्य्ययोर्वर्णनं कृतमिति, ततोऽर्थवैपरीत्यं जायते। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषोऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति। तत्र यस्येच्छा सूर्य्यस्य ग्रहणेऽस्ति तेनेन्द्रशत्रुशब्दः कर्मधारयसमासेनान्तोदात्त उच्चारणीयः। यस्य च मेघस्य तेन बहुव्री-

द्विसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्वरश्चेति नियमोस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते । अतः कारणात् स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्त्तव्यमिति ॥१॥

भाषार्थ

पठनपाठन की आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थान प्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सब को प्रिय लगें । जैसे (प) इस के उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का, पकार का उच्चारण ओठों से होता है, परन्तु दो ओठों को ठीक २ मिला ही के पकार बोला जाता है । इसका ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो तो उस को भी उसी उसी के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है । इस का सब विधान व्याकरण और शिक्षाग्रन्थ में लिखा है । फिर इस विषय में पतञ्जलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहाता है अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जनाता । तथा (स वाग्वज्रो०) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के विना शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती । किन्तु गान का करने वाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे तो वह अपराध उसी का समझा जाता है । इसी प्रकार वेदादि ग्रन्थों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये और जो उलटा उच्चारण किया जाता है वह (दुष्टः शब्दः) दुःख देने वाला और झूठ समझा जाता है । जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो किन्तु उससे विपरीत किया जाय तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है और विद्वान् लोग बोलने वाले से कहते हैं कि तूने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया इससे यह तेरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता । जैसे (सकल) और (शकल) देख लो अर्थात् (सकल) शब्द सम्पूर्ण का बोधक और जो उस में तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय तो वही फिर खण्ड का वाचक हो जाता है । ऐसे ही सकृत् और शकृत् में दन्त्य सकार के उच्चारण से प्रथम क्रिया और उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्ठा का बोध होता है । इसलिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीक २ अर्थ का बोध होता है । क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करने वाला होता है । सो यह दोष बोलने वाले का ही

गिना जाता है । जैसे (इन्द्रशत्रुः), यहां इकार में उदात्तस्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्य पदार्थ का बोध होता है तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुषसमास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है । सूर्य्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है । इस के सम्बन्ध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्ययोगिताऽलङ्कार से किया है । जो इन्द्र अर्थात् सूर्य्य की उत्तमता चाहे वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे और जो मेघ की वृद्धि चाहे वह आद्युदात्त उच्चारण करे । इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये ।

भाष्यम्

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजनादीनामपि शिक्षा कर्त्तव्यैव । अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं प्राप्नोति । परन्तु यो न पठति तस्मात्त्वयं पाठमात्रकार्य्यप्युत्तमो भवति । यस्तु खलु शब्दार्थसम्बन्ध-विज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः । यश्चैवं वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुण-कर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्तमतमः । अत्र प्रमाणानि ।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ २ ॥ ऋ० मण्डल १ । सू० १६४ । मं० ३९ ॥ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम् । योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ ३ ॥ यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥ निरु० अ० १ । खं० १८ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं१ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ५ ॥ उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु । अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ६ ॥ ऋ० मण्डल १० । सू० ७१ । मं० ४ । ५ ॥

भाष्यम्

अभि०—अत्रार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति । (ऋचो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमोत्कृष्टे व्योमवद्व्यापके ब्रह्मणि, चत्वारो वेदाः

पर्य्यवसितार्थाः सन्ति, ऋगुपलक्षणं चतुर्णां वेदानां ग्रहणार्थम्, तत् किं ब्रह्मेत्यत्राह । यस्मिन् विश्वे देवाः, सर्वे विद्वांसो, मनुष्या, इन्द्रियाणि च सूर्य्यादयश्च सर्वे लोका, अधिनिषेदुर्यदाऽऽधारेण निषण्णाः स्थितास्तद्ब्रह्म विज्ञेयम् । (यस्तं न वेद०) यः खलु तन्न जानाति, सर्वोपकारकरणार्थायामीश्वराज्ञायां यथावन्न वर्त्तते, स पठितयाऽपि ऋचा वेदेन किं करिष्यति, नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः । (य इत्तद्विदुस्त इमे समासते) य चैवं तद्ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति । तस्मात्सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ २॥ (स्थाणुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं न जानाति,तं विज्ञायाऽपि धर्मं नाचरति, स मनुष्यः स्थाणुः काष्ठस्तम्भवद्भवति, अर्थाज्जडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भारमात्रं वहंस्तन्न भुङ्क्ते, किन्तु तेनोढं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चिद्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्क्ते । योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स भारवाहवत् (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम् । (योऽर्थज्ञ०) योऽर्थस्य ज्ञाता वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद्भूत्वा धर्माचरणो भवति, स वेदार्थज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन् मरणात् प्रागेव (सकलं) सम्पूर्णं (भद्रं) भजनीयं सुखं (अश्नुते) प्राप्नोति । पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्वदुःखरहितं मोक्षाख्यं ब्रह्मपदं प्राप्नोति । तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठानपूर्वकमेवाध्ययनं कर्त्तव्यम् ॥ ३ ॥ (यद्गृहीतमविज्ञातं) येन मनुष्येण यदर्थज्ञानशून्यं वेदाध्ययनं क्रियते, किन्तु (निगदेन) पाठमात्रेणैव (शब्द्यते) कथ्यते, तत् (कर्हिचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाशते । कस्मिन् किमिव ? । (अनग्नाविव शुष्कैधः) अविद्यमानाग्निके स्थले शुष्कं सांप्रतं प्रज्वलनमिन्धनमिव । यथाऽनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेनापि दाहप्रकाशा न जायन्ते तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वेको वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति. (उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्के, कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि न शृणोति तदर्थं न जानाति । यथा तेनोच्चारिताश्रुताऽपि वाक् अविदिता भवति तथैवाऽर्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्राऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम् । (उतो त्वस्मै) यो मनुष्योऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति तस्मै (वाक्) विद्या (तन्वं) शरीरं स्वस्वरूपं (विसस्रे) विविधतया प्रकाशयति । कस्मै का किं कुर्वतीव ? । (जायेव पत्य उशती सुवासाः) यथा शोभनानि वासांसि वस्त्राणि धारयन्ती, पतिं कामयमाना स्त्री

स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं प्रकाशयति, तथैवाऽर्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥ ५ ॥ (सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि, (उत त्वं) अन्यमनूचानं पूर्णविद्यायुक्तं, (स्थिरपीतं) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं प्राप्तं येन, तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं (आहुः) वदन्ति । (नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद् व्यवहारे केऽपि न हिंसन्ति, तस्य सर्वप्रियकारकत्वात् । तथैव नैव केचित्प्रश्नोत्तरादयो व्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु शत्रुभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारं मनुष्यं हिन्वन्ति, तस्य सत्यविद्यान्वितायाः कामदुहा वाचा सह वर्त्तमानत्वेन सत्यविद्याशुभलक्षणान्वितत्वात् । इत्यनेन मन्त्रपूर्वार्ऽर्धेन विद्वत्प्रशंसोच्यते । अथैतन्मन्त्रोत्तराऽर्द्धेनाविद्वल्लक्षणमाह । (अधेन्वाचरति) यतो योऽविद्वान्, (अपुष्पाम्) कर्मोपासनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलां) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं शुश्रुवान् श्रुतवान् तथाऽर्थशिक्षारहितया भ्रमसहितया (मायया) कपटयुक्तया वाचाऽस्मिंल्लोके चरति, नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकाराख्यं च फलं किञ्चिदपि प्राप्नोति । तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

भाषार्थ

ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने, सुनने, चलने, बैठने, उठने, खाने, पीने, पढ़ने, विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये, क्योंकि अर्थज्ञान के विना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता । परन्तु कुछ भी नहीं पढ़ने वाले से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है । जो वेदों को अर्थसहित यथावत् पढ़ के शुभ गुणों को ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है वही सब से उत्तम होता है । इस विषय में वेदमन्त्रों के बहुत प्रमाण हैं जैसे (ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्) । यहां इन मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना पढ़ने का निषेध किया जाता है (प्र०) जिस का विनाश कभी नहीं होता और जो सबसे श्रेष्ठ, आकाशवत् व्यापक, सब में रहने वाला परमेश्वर है, जिसने अर्थसहित चारों वेद विद्यमान तथा जिसका उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है, वह ब्रह्म क्या वस्तु है ? । (उ०) (यस्मिन्देवा०) जिस में संपूर्ण विद्वान् लोग, सब इन्द्रियां, सब मनुष्य और सब सूर्य्यादिलोक स्थित हैं वह परमेश्वर कहाता है । जो मनुष्य वेदों को पढ़ के

ईश्वर को न जाने तो क्या वेदार्थ जानने का फल उस को प्राप्त हो सकता है, कभी नहीं । इसलिये जैसा वेदविषय में लिख आये हैं वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यन्त आनन्द को प्राप्त होते हैं । परन्तु जो कोई पाठमात्र ही पढ़ता है वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता । इस कारण से जो कुछ पढ़ें सो अर्थज्ञानपूर्वक ही पढ़ें ॥ २ ॥ (स्थाणु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उन के अर्थों को नहीं जानता वह उनके सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृक्ष के समान है, जो कि अपने फल फूल डाली आदि को विना गुणबोध के उठा रहे हैं, किन्तु जैसे उनके सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है वैसे ही पाठ के पढ़ने वाले भी परिश्रमरूप भार को उठाते हैं परन्तु उनके अर्थज्ञान से अनन्दस्वरूप फल को नहीं भोग सकते । (योऽर्थज्ञः) और जो अर्थ का जानने वाला है वह अधर्म से बचकर, धर्मात्मा होके, जन्म मरणरूप दुःख का त्याग करके, संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है । क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है वह (नाकमेति) सर्वदुःखरहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है । इसी कारण वेदादिशास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥ (यद्गृहीत०) जो मनुष्य केवल पाठमात्र ही पठन किया करता है उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है । (अग्नाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के विना सूखे ईंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता वैसे ही अर्थज्ञान के विना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाशरहित रहता है । वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥ ४ ॥ (उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान न हो वह मूर्ख अर्थात् अविद्वान् है । (उतो त्वस्मै०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ सम्बन्ध तथा विद्या के प्रयोजन को यथावत् जान ले वह पूर्ण विद्वान् कहाता है । ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है । (जायेव पत्य उशती सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है वैसे ही अर्थ जाननेवाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥ ५ ॥ (उतत्वं सख्ये०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें अर्थात् जैसे सम्पूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है उस को अच्छी प्रकार सुख दे कि जिससे तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे । विद्वान् नाम उसका है जो कि अर्थसहित विद्या को पढ़के वैसा ही आचरण करे कि जिससे

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके। इसी को स्थिरपीत कहते हैं। ऐसा जो विद्वान् है वह संसार को सुख देने वाला होता है। (नैनं हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता, क्योंकि जिसके हृदय में विद्यारूप सूर्य्य प्रकाशित हो रहा है उस को दुःखरूप चोर दुःख कभी नहीं दे सकते। (अधेन्वा च०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्रायरहित वाणी को सुनता और कहता है उसको कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु शोकरूप शत्रु उस को सब दिन दुःख ही देते रहते हैं। क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये अर्थज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

भाष्यम्

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम्। ततो निघण्टु-निरुक्तछन्दोज्योतिषाणां वेदाङ्गानाम्। ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्यवेदा-न्तानां वेदोपाङ्गानां षण्णां शास्त्राणाम्। तत ऐतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मणानाम-ध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्त्तव्यम्। यद्वा एतत्सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्या-ख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सर्वैः कर्त्तव्यमिति। कुतः। नावेदविन्मनुते तं बृहन्त-मिति। यो मनुष्यो वेदार्थान्न वेत्ति स नैव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति। कुतः, सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः। नहि तमविज्ञाय कस्यचित्सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति। यद्यत् किञ्चिद्भूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृद-यान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च तत् सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति विज्ञेयम्। कुतः। यद्यद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति। तद्द्वारैवा-ऽन्यत्र कुत्रचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः। अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति।

भाषार्थ

मनुष्य लोग वेदार्थ जानने के लिये अर्थयोजनासहित व्याकरण, अष्टाध्यायी, धातुपाठ, उणादिगण, गणपाठ और महाभाष्य। शिक्षा, कल्प, निघण्टु, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अंग। मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपांग अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक २ जाना जाता है। तथा ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ये चार ब्राह्मण। इन सब ग्रन्थों

को क्रम से पढ़ के अथवा जिन्होंने उन संपूर्ण ग्रन्थों को पढ़ के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उन को देख के वेद का अर्थ यथावत् जान लेवें। क्योंकि (नावेदवित्०) वेदों को नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थविद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो २ जहां २ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है। क्योंकि जो २ सत्यविज्ञान है सो २ ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है, इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के विना पुरुष अन्धे के समान होता है। इस से संपूर्ण विद्याओं के मूल वेदों को विना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थज्ञानसहित अवश्य पढ़ने चाहियें।

इति पठनपाठनविषयः संक्षेपतः

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः

(प्रश्नः) किञ्च भोः! नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित्पूर्वाचार्य्यैः कृतमेव प्रकाश्यते?। यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तर्हि तत् पिष्टपेषणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति। (उत्तरम्) पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा। यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिरैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन्, तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि, एवमुपवेदाख्यानि, तथैव वेदशाखाख्यानि च रचितानि सन्ति, एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति। (प्रश्नः) किमनेन फलं भविष्यतीति?। (उ०) यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैदनुसारेणेङ्गलेण्डशारमण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति, टीकानामधिकदोषप्रासि-

द्धया त्यागश्च । परन्त्ववकाशाभावात्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः क्रियते । तद्यथा । यत् सायणाचार्य्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तं, तदन्यथास्ति । कुतः । तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात् । तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति । एतावतैवास्य कथनं व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम् । (इन्द्रं मित्रं०) अस्य मन्त्रस्याऽर्थोऽप्यन्यथैव वर्णितः । तद्यथा । तेनाऽत्रेन्द्रशब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया । अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवत्येवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनरन्वितं भवतीति, न चैवं विशेषणम् । एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः, तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति विशेषणस्यैकवारमेवेति । तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाऽग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाऽभिप्रायात् । इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम् । निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः । तद्यथा । इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० ॥ नि० अ० ७ । खं० १८ ॥ स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति । तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम् । तथा च । तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते, यथा राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं सम्पादयति, यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धिनि पूर्वभागे आहवनीयरूपेणावस्थितमित्युक्तमिदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति । तद्यथा । सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपेणावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः । तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव । कोऽपि ब्रूयात्सायणाचार्य्येण यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोध इत्युक्तत्वाददोष इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते तर्हि परमेश्वरस्येन्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता । तद्यथा । अज एकपात्, स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमित्यादिमन्त्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्तत्कथनमसदस्ति । एवमेव सायणाचार्य्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति । अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषान् प्रकाशयिष्याम इति ।

भाषार्थ

(प्रश्न) क्योंजी जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो सो पूर्व आचार्य्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नवीन, जो पूर्वरचित भाष्यों के समान है तब तो बना-

ना व्यर्थ है, क्योंकि वे तो पहिले ही से बने बनाये हैं और जो नया बनाते हो तो उस को कोई भी न मानेगा, क्योंकि जो विना प्रमाण के केवल अपने ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है ? । (उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आचार्य्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है । परन्तु जो रावण, उवट, सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमन्त्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं। मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता, क्योंकि उन्हों ने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद, वेदाङ्ग, ऐतरेय, शतपथब्राह्मणादि ग्रन्थों के अनुसार होता है । क्योंकि जो २ वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है । क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिन आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं । वैसे ही ग्यारहसौ सत्ताईस (११२७) वेदों की शाखा भी उन के व्याख्यान ही हैं । उन सब ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है । और दूसरा इन के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी रीति से नहीं लिखी जाती । और जो २ भाष्य उवट, सायण, महीधरादि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं । तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेज़ी, जर्मनी, दाक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं वे भी अशुद्ध हैं । जैसे देखो सायणाचार्य्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं । यह उनकी बात मिथ्या है । इस के उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं सो देख लेना । ऐसे ही (इन्द्रं मित्रं०), सायणाचार्य्य ने इस मन्त्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है, क्योंकि उन से इस मन्त्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उस के विशेषण ठहराये हैं । यह उन को बड़ा भ्रम हो गया, क्योंकि इस मन्त्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उस के ही विशेषण हैं । इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय होकर पुनः दूसरे २ विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक वार विशेष्य के साथ अन्वय होता है । इसी प्रकार जहां २ एक के सैकड़ों वा हज़ारों विशेषण होते हैं वहां २ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हज़ारों वार उच्चारण होता है । वैसे ही इस मन्त्र में विशेष्य की इच्छा से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो वार उच्चारण किया और

अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे हैं। यह बात सायणाचार्य्य ने नहीं जानी, इससे उन की यह भ्रान्ति सिद्ध है। इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है, (इममेवाग्निं०) यहां अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद् वस्तु ब्रह्म ही के हैं, क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं। ऐसे ही सायणाचार्य्य ने और भी बहुत मन्त्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं तथा उनने सब मन्त्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रक्खा है। जैसे राजा का पुरोहित राजा ही के हित का काम सिद्ध करता है अथवा जो अग्नि यज्ञ के सम्बन्धी प्रथम भाग में हवन करने के लिये है उसी रूप से ईश्वर स्थित है। यह सायणाचार्य्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के सम्बन्ध को तोड़ता है। क्योंकि जब सब नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं उस को किसलिये ग्रहण किया है। और कदाचित् कोई कहे कि जो सायणाचार्य्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उससे कुछ भी विरोध नहीं आ सकता। इसका उत्तर यह है कि जब इन्द्रादि नामों से परमेश्वर ही का ग्रहण है तो वह निराकार, सर्वशक्तिमान्, व्यापक और अखण्ड होने से जन्म लेकर भिन्न २ व्यक्ति वाला कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक अज और अकाय अर्थात् शरीर सम्बन्ध रहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है। इससे सायणाचार्य्य का कथन सत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार सायणाचार्य्य ने जिस २ मन्त्र का अन्यथा व्याख्यान किया है सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मन्त्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा।

भाष्यम्

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवर्णं (विवरणं?) कृतं तस्यापीह दोषा दिग्दर्शनवत्प्रदर्श्यन्ते।

इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यन्त विरुद्ध व्याख्यान किया है उसमें से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उन के कुछ दोष यहां भी दिखलाते हैं।

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम। आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ १ ॥ यजु० अ० २३। मं० १६ ॥

भाष्यम्

अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने तेनोक्तमस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति । तद्यथा । महिषी यजमानस्य पत्नी, यज्ञशालायां, पश्यतां सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते । शयाना सत्याह । हे अश्व ! गर्भधं गर्भं दधाति गर्भधं गर्भधारकं रेतः, अहं आ अजानि, आकृष्य क्षिपामि । त्वं च गर्भधं रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि ।

भाषार्थ

(गणानां त्वा) इस मन्त्र में महीधर ने कहा है कि गणपति शब्द से घोड़े का ग्रहण है । सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि सब ऋत्विजों के सामने यजमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे और सोती हुई घोड़े से कहे कि, हे अश्व ! जिससे गर्भधारण होता है ऐसा जो तेरा वीर्य्य है उस को मैं खैंच के अपनी योनि में डालूं तथा तूं उस वीर्य्य को मुझ में स्थापन करने वाला है ।

अथ सत्योर्थः

गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ब्राह्मणस्पत्यं । ब्रह्म वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्भिषज्यति, प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामेति ॥ ऐत० पं० १ । कं० २१ ॥ प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः ॥ क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशवः ॥ क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं ॥ ज्योतिर्वै हिरण्यम् ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । कं० १४ । १५ । १७ । १६ ॥ न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेदाश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ३ । कं० १ ॥ राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधाति ॥ क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्तमानं करोति ॥ अथो क्षत्रं वा अश्वः, क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं, क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति ॥ विशमेव तद्विशा समर्धयति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० २ । कं० १६ । १५ । १७ । १८ ॥ गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामह इति । पत्न्यः परियन्त्यपह्नुवत एवास्मा एतदतोऽन्येवास्मैह्नुवतेऽथो धुवत एवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते ॥ अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति ये यज्ञे धुवनं तन्वते । नव-

कृत्वः परियन्ति । नव वै प्राणाः । प्राणानेवात्मन्दधते । नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति । प्रजावै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन्धत्ते ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ८ । कं० ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गणपतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं (हवामहे) गृह्णीमः । तथैव सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतिं त्वेति पूर्ववत् । एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोशानां निधिपतिं त्वेति पूर्ववत् । वसत्यस्मिन् सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः । तत्सम्बुद्धौ हे वसो, परमेश्वरपरत्वम् । सर्वान् कार्य्यान् भूगोलान्स्वसामर्थ्ये गर्भवद्धातीति स गर्भध,स्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि, सर्वथा जानीयाम् । (आ त्वमजासि) हे भगवन् ! त्वं तु आ समन्ताज्ज्ञातासि । पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृतिपरमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे । नैवातो भिन्नः कश्चिद्गर्भधारकोस्तीति । एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थो वर्णितः । ब्राह्मणस्पत्यमस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः । ब्रह्म वै बृहस्पतिरित्युक्तत्वात् । तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टा विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति । आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति । यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः, सप्रथश्च प्रकृत्याकाशादिना प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्त्तते स सप्रथ,स्तादिदं नामद्वयं तस्यैवास्तीति । प्रजापतिः परमेश्वरो, वै इति निश्चयेन, जमदग्निसंज्ञोस्ति । अत्र प्रमाणम् ।

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा, प्रज्वलिताग्नयो वा, तैरभिहुतो भवति ॥ निरु० अ० ७ । खं० २४ ॥

भाष्यम्

इमे सूर्य्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता भवन्ति । तैः सूर्य्यादिभिः कार्य्यैस्तन्नियमैश्च कारणाख्य ईश्वरोभिहुतश्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति । यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः) स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोर्थः । अथापरः । क्षत्रं वाश्वो विडितरे पशव इत्यादि । यथाऽश्वस्यापेक्षयेतर इमेऽजादयः पशवो न्यूनबलवेगा भवन्ति, तथा राज्ञः सभासमीपे विद् प्रजा निर्बलैव भवति । तस्य राज्यस्य, यद्धिरण्यं सुवर्णादिवस्तु ज्योतिः

प्रकाशो वा न्यायकरणमेतत्स्वरूपं भवति । यथा राजप्रजालङ्कारेण राजप्रजाधर्मो वर्णितः, तथैव जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसम्बन्धो वर्ण्यते । नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया* स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेद किन्त्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति ।

अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः ॥ श० कां० १३ । अ० ३ । ब्रा० ३ । कं० ५ ॥ अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः ॥

भाष्यम्

इत्युक्तत्वादीश्वरस्यैवात्राश्वसंज्ञास्तीति । अन्यच्च (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति, तद्राष्ट्रं राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति, तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति । तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्त्तमानामनुकूलां † करोति । अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति । तस्य, यद्धिरण्यमेतदेवरूपं भवति । तेन हिरण्याद्यन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग्वर्धते नच प्रजा । सा तु स्वतन्त्रस्वभावान्वितया विशा समर्धयति । अतो यत्रैको राजा भवति तत्र प्रजा पीडिता जायते । तस्मात्प्रजासत्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति । (गणानां) स्त्रियोप्येनं, राज्यपालनाय, विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणाख्यं यज्ञं, परितः सर्वतः प्राप्नुयुः, प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्ध्यै यदपह्नवाख्यं कर्माचरन्ति, अतः कारणादेतदेतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं विचालयन्ति तानप्यन्ये च दूरीकुर्य्युः । एवमस्य त्रिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्य्युः । एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि सम्पादयेयुः । ये नराः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति । तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत् । (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात्सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम् । यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमां सर्वां प्रजामात्मनि, अतति सर्वत्र व्याप्नोति तस्मिन् जगदीश्वरे वर्त्तत इति, धारयति । इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मन्त्रस्यार्थो वर्णितः । अस्मान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम् ।

भाषार्थ

(गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मन्त्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करता है, जैसे ब्रह्म का नाम बृहस्पति, ईश्वर तथा

---

* एतस्थाने सहजतयेति ह० लि० भूमिकायां पाठः ॥
† स्ववर्त्तमानानुकूलामिति ह० लि० भूमिकायां नास्ति ।

वेद का नाम भी ब्रह्म है। जैसे अच्छा वैद्य रोगी को औषध देके दुःखों से अलग कर देता है, वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है, जो कि प्रथ अर्थात् विस्तृत, सब में व्याप्त और सप्रथ अर्थात् आकाशादि विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है। इसी प्रकार से यह मन्त्र ईश्वर के नामों को यथावत् प्रतिपादन कर रहा है। ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी राज्यपालन का नाम अश्वमेध, राजा का नाम अश्व और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न पशु रक्खा है। राज्य की शोभा धन है और ज्योति का नाम हिरण्य है। तथा अश्व नाम परमेश्वर का भी है, क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता किन्तु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है वही उन के लिये स्वर्गसुख को जनाता और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं उन को सब स्वर्गसुख देता है तथा (राष्ट्रमश्वमेधः) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभा ही का काम और उसी सभा का नाम राजा है, वही अपनी ओर से प्रजा पर कर लगाती है, क्योंकि राज ही से राज्य और प्रजा ही से प्रजा की वृद्धि होती है। (गणानां त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिक्षा सन्तानों को करती रहें। जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी सन्तानोत्पत्ति आदि कर्म्म में मिथ्याचरण करती हैं उन के इस कर्म को विद्वान् लोग प्रसन्न नहीं करते और जो पुरुष सन्तानादि की शिक्षा में आलस्य करते हैं अन्य लोग उनको बांध कर ताड़ना देते हैं। इस प्रकार तीन, छः वा नव वार इस की रक्षा से आत्मा शरीर और बल को सिद्ध करें। जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं उनके बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते। (आहमजानि०) प्रजा के कारण का नाम गर्भ है। उस के समतुल्य वह सभा, प्रजा और प्रजा के पशुओं को, अपने आत्मा में धारण करे अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे वैसे ही प्रजा और उस के पशुओं का भी सुख चाहे। (गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने हारा है, (त्वा०) उस को (हवामहे) हम लोग पूज्यबुद्धि से ग्रहण करते हैं। (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्षसुखादि का प्रियपति तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है उसी को हम लोग अपना उपास्यदेव जान के ग्रहण करते हैं। (निधीनां त्वा०) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है उसी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं। तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उसमें बस रहा है इस

कारण से उस को वसु कहते हैं। हे वसु परमेश्वर ! जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादिकारण में गर्भधारण करते हैं अर्थात् सब मूर्त्तिमान् द्रव्यों को आप ही रचते हैं इसी हेतु से आप का नाम गर्भध है। (आहमजानि) मैं ऐसे गुणसहित आपको जानूं। (आत्व०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं वैसे ही मुझ को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये। (गर्भधं) दूसरी वेर गर्भध शब्द का पाठ इसलिये है कि जो २ प्रकृति और परमाणु आदि कार्यद्रव्यों के गर्भरूप हैं उन में भी सब जगत् के गर्भरूप बीज को धारण करनेवाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करनेवाला कोई भी नहीं है। यही अर्थ ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मण में कहा है। विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त करके वेदों का कितना अपमान कराया है। जैसे यह दोष खण्डित हुआ वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी।

ता उ॒भौ च॒तुर॑: प॒दः स॒म्प्रसा॑रयाव स्व॒र्गे लो॒के प्रोर्णु॑वाथां॒ वृषा॑ वा॒जी रे॑तो॒धा रेतो॑ दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३ । मं० २० ॥

महीधरस्यार्थः—अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति। महिषी स्वयमेवाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

यजमान की स्त्री घोड़े के लिङ्ग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि में डाल देवे।

सत्योऽर्थः

ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳ संज्ञपयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ८ । कं० ५ ॥

भाष्यम्

आवां राजप्रजे, धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि, सदैव मिलिते भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि। कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह। स्वर्गे सुखविशेषे, लोके द्रष्टव्ये

भोक्तव्ये, प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाय, येन सर्वान्प्राणिनः सुखैराच्छादयेवहि । यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां द्रष्टारं जीवं विद्योपदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति सैष एव सुखयुक्तो देशो हि स्वर्गो भवति । तस्मात्कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गुणानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रति विद्याबले सततमेव दधात्वित्याहायं मन्त्रः ।

भाषार्थ

(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिल के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें । किस प्रयोजन के लिये ? कि दोनों की अत्यन्त सुखरूप स्वर्गलोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के लिये, जिससे हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण कर देवें । जिस राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं वही देश सुखयुक्त होता है । इससे राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की सदा सेवा करें और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावें । इस अर्थ का कहनेवाला (ता उभौ०) यह मन्त्र है । इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है ।

यकासकौ शकुन्तिका हलगिति वञ्चति । आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥ य० अ० २३ । मं० २२ ॥

महीधरो वदति

अध्वर्य्वादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते । अंगुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह, स्त्रीणां शीघ्रगमने योनौ हलहलाशब्दो भवतीत्यर्थः । भगे योनौ शकुनिसदृश्यां यदा पसो लिंगमाहन्ति आगच्छति । पुंस्प्रजननस्य नाम, हन्तिर्गत्यर्थः । यदा भगे शिश्नमागच्छति तदा (धारका) धरति लिङ्गमिति धारका योनिः (निगल्गलीति) नितरां गलति वीर्य्यं क्षरति; यद्वा शब्दानुकरणं गल्गलेति शब्दं करोति । (यकासकौ० ॥ यजु० अ० २३ । मं० २३ ॥) कुमारी अध्वर्य्युं प्रत्याह । अंगुल्या लिंगं प्रदेशयन्त्याह । अग्रभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते ।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

यज्ञशाला में अध्वर्यु आदि ऋत्विज् लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहास

पूर्वक संवाद करते हैं । इस प्रकार से कि अङ्गुलि से योनि को दिखला के हंसते हैं, (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जल्दी २ चलती हैं तब उन की योनि में हलहला शब्द और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलहला शब्द होता और योनि और लिङ्ग से वीर्य्य झरता है । (यकासकौ०) कुमारी अध्वर्यु का उपहास करती है कि जो यह छिद्रसहित तेरे लिङ्ग का अग्रभाग है सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है ।

अथ सत्यार्थः

यकासकौ शकुन्तिकेति । विड् वै शकुन्तिका हलगिति वञ्चतीति । विशो वै राष्ट्राय वञ्चन्त्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति, विड् वै गभो राष्ट्रं पसो, राष्ट्रमेव विश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० ६ ॥

भाष्यम्

(विड्वै०) यथा श्येनस्य समीपेऽल्पपक्षिणी निर्बला भवति तथैव राज्ञः समीपे (विट्) प्रजा निर्बला भवति । (आहलगिति वञ्चतीति) राजानो विशः प्रजाः (वै) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वञ्चन्तीति । (आहन्ति०) विशो गभसंज्ञा भवति पसाख्यं राष्ट्रं, राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति, यस्माद्राष्ट्रं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्धननं पीडां करोति, यस्माद्राष्ट्री एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति, तस्मात्कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचिन्नैव मन्तव्यः, किन्तु सभाध्यक्षः सभाधीनो यः सदाचारी शुभलक्षणान्वितो विद्वान्स प्रजाभी राजा मन्तव्यः । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दुष्टोऽर्थोस्तीति विचारणीयम् ।

भाषार्थ

(यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है कि जैसे बाज के सामने छोटी २ चिड़ियाओं की दुर्दशा होती है वैसे ही राजा के सामने प्रजा की । (आहलगिति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां प्रजा ठगी जाती है । (आहन्तिगभे पसो०) तथा प्रजा का नाम गभ और राज्य का नाम पस है । जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां वह अपने लोभ से प्रजा के पदार्थों की हानि ही करता चला जाता है । इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करने वाला भी कहते हैं । इस

कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये, किन्तु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्यप्रबन्ध होना चाहिये । (यकासकौ०) इत्यादि मन्त्रों के शतपथप्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यन्त विरोध है ।

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंᳪसयत् ॥ य० अ० २३ । मं० २४ ॥

महीधरस्यार्थः

ब्रह्मा महिषीमाह । महिषि हये हये महिषि ! ते तव माता, च पुनः, ते तव पिता, यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मञ्चकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिङ्गमतंसयत्तंसयति प्रक्षिपति । एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम् । लिङ्गमुत्थानेनालङ्करोति वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन्नेवं तवोत्पत्तिः ।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिङ्ग को तेरी माता के भग में डाला तब तेरी उत्पत्ति हुई । उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसे ही हुई है उससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है ।

अथ सत्योर्थः

माता च ते पिता च त इति । इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति । श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रᳪ, श्रियमेवैनᳪ राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतᳪसयदिति । विड्वै गभो राष्ट्रं मुष्टी, राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ श० का० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० ७ ॥

भाष्यम्

(माता च ते०) हे मनुष्य ! इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति । ओषध्याद्यनेकपदार्थदानेन विज्ञानोत्पत्त्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ द्यौः प्रकाशो

विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति, सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् । विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति । (अग्रं वृक्षस्य०) या श्री,र्विद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः सा राष्ट्रस्याग्रमुत्तमाङ्गं भवति, सैवैनं जीवं श्रियं शोभां गमयति, यद्राष्ट्रस्याग्रमग्र्यं मुख्यं सुखं च। (प्रतिलामीति०) विट् प्रजा गभाख्याऽर्थादैश्वर्य्यप्रदा, (राष्ट्रंमुष्टिः०) राजकर्म मुष्टिः, यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति तथैवैको राजा चेत्तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति, तस्माद्राष्ट्री विशं घातुको भवति । अस्मादर्थान्महीधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्धोऽस्ति, तस्मात्स नैव केनापि मन्तव्यः ।

भाषार्थ

सत्य अर्थ

(माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्या माता के समान सब प्रकार के मान्य कराने वाली और सूर्य्यलोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं । क्योंकि सूर्यलोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञानदान से परिडत तथा परमात्मा सब का पालन करने वाला है । इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्राप्त करा देते हैं । (अग्रं वृक्षस्य) श्री जो लक्ष्मी है सो ही राज्य का अग्रभाग अर्थात् शिर के समान है, क्योंकि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं । (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम गभ अर्थात् ऐश्वर्य्य की देनेवाली और राज्य का नाम मुष्टि है, क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे । वैसे ही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है वहां वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो २ प्रजा की श्रेष्ठ सुख देनेवाली लक्ष्मी है उसको ले लेता है अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है । इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये । किन्तु सब लोगों को उचित है कि अध्यक्ष सहित सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यन्त विरुद्ध है ।

*** ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳ हरन्निव । अथास्यै मध्यमेधताꣳ शीते वाते पुनन्निव ॥ य० अ० २३ । मं० २६ ॥**

* ऊर्ध्वामिति यजुषि पाठः ।

महीधरस्यार्थः

यथा अस्यै अस्या वावाताया मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं यायात्, यथा योनिर्विशाला भवति, तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः । दृष्टान्तान्तरमाह । यथा शीतले वायौ वाति पुनन्धान्यपवनं कुर्वाणः कृषीवलो धान्यपात्रं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः ।

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् । मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ २८ ॥ य० अ० २३ । मं० २८ ॥

यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपातसत् उपगच्छत् योनिं प्रति गच्छेत्, तंस उपक्षये, तदा मुष्कौ वृषणौ इत् एव अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते, लिङ्गस्य स्थूलत्वाद्योनेरल्पत्वाद्वृषणौ बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः, गोशफे जलपूर्णे गोखुरे शकुलौ मत्स्याविव, यथा उदकपूर्णे गोः पदे मत्स्यौ कम्पेते ।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ से खैंच के बढ़ा लेवें, (यदस्य अंहु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य्य निकल जाता है । जब छोटा वा बड़ा लिङ्ग उस की योनि में डाला जाता है तब योनि के ऊपर दोनों अंडकोश नाचा करते हैं, क्योंकि योनि छोटी और लिङ्ग बड़ा होता है । इस में महीधर दृष्टान्त देता है कि जैसे गाय के खुर के बने हुए गढ़े के जल में दो मच्छी नाचें, तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य अन्न और भुस अलग २ करने के लिये चलते वायु में एक पात्र में भर के ऊपर को उठा के कंपाया करता है वैसे ही योनि के ऊपर अंडकोश नाचा करते हैं ।

अथ सत्योऽर्थः

*** ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापयेति । श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति । गिरौ भारं हरन्निवेति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रं सन्नह्यत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति ।**

* ऊर्ध्वामिति वैदिकयन्त्रालयमुद्रितशतपथे पाठः ॥

अथास्यै मध्यमेधतामिति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यꣳ श्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति । शीते वाते पुनन्निवेति । क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० २ । ३ । ४ । ५ ॥

भाष्यम्

(ऊर्ध्वमेना०) हे नर ! त्वं श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मै राष्ट्राय श्रियमुच्छ्रापय सेव्यामुत्कृष्टां कुरु । एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्यमूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम् । (गिरौ भारꣳ हर०) कस्मिन्किमिव ? । गिरिशिखरे प्राप्त्यर्थं भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव । कोऽस्ति राष्ट्रस्य भार इत्यत्राह । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार इति । सभाव्यवस्थयास्मै राष्ट्राय श्रियं सन्नह्य सम्बध्य राष्ट्रमनुत्तमं कुर्य्यात् । अथो इत्यनन्तरमेव कुर्वन् जनोऽस्मिन्संसारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः । (अथास्यै०) किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमित्याकांक्षायामुच्यते श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यं, तस्मादिमां पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याऽऽभ्यन्तरे दधाति, सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निव ? । शीते वाते पुनन्निवेति । राष्ट्रस्य क्षेमो रक्षणं शीतं भवत्यस्मै राष्ट्राय क्षेमं सुसभया रक्षणं कुर्य्यात् । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं विरुद्धमस्तीति ।

भाषार्थ

श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम अश्वमेध है । ये ही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं । (गिरौ भारꣳ हरन्निव०) राज्य का भार श्री है, क्योंकि इसीसे राज्य की वृद्धि होती है । इसलिये राज्य में विद्या और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबन्ध श्रेष्ठपुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये कि (अथास्यै०) श्री राज्य का आधार और वही राज्य में शोभा को धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देती है । इस में दृष्टान्त यह है कि (शीते वाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का नाम शीत है क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है तभी उसकी उन्नति होती है । (प्रश्न) राज्य का भार कौन है ? (उत्तर) (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) श्री, क्योंकि वही धन के भार से युक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है । (अथो) इसके अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश

अथवा संसार में श्रीयुक्त राज्य के प्रबन्ध को सब में स्थापन कर देते हैं। (अथास्यै०) (प्रश्न) उस राज्य का मध्य क्या है ? । (उत्तर) प्रजा की ठीक २ रक्षा अर्थात् उसका नियमपूर्वक पालन करना यही उसकी रक्षा में मध्यस्थ है। (गिरौ भारᳪ हरन्निव) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है।

यद्देवासो॑ ललाम॑गुं॒ प्र वि॑ष्टी॒मिन॒मावि॑षुः। स॒क्थ्ना दे॑दिश्यते॒ नारी॑ स॒त्यस्या॑क्षि॒भुवो॒ यथा ॥ य० अ० २३। मं० २९ ॥

महीधरस्यार्थः

(यत्) यदा (देवासः) देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होत्रादयः ऋत्विजो (ललामगुं) लिङ्गं (प्र आविशुः) योनौ प्रवेशयन्ति, ललामेति सुखनाम, ललाम सुखं गच्छति प्राप्नोति ललामगुः शिश्नः, यद्वा ललाम पुण्ड्रं गच्छति ललामगुः लिङ्गं, योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः। कीदृशं ललामगुं विष्टीमिनं शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः। यदा देवाः शिश्नक्रीडिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति तदा नारी सक्थ्ना ऊरुणा उरुभ्यां देदिश्यते निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते। भोगसमये सर्वस्य नार्यङ्गस्य नरेण व्याप्तत्वादूरुमात्रं लक्ष्यते, इयं नारीतीत्यर्थः।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

(यद्देवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज् लोग ऐसा हंसते और अंडकोश नाचा करते हैं तब तक घोड़े का लिङ्ग महिषी की योनि में काम करता है और उन ऋत्विजों के भी लिङ्ग स्त्रियों की योनि में प्रवेश करते हैं और जब लिङ्ग खड़ा होता है तब कमल के समान हो जाता है। जब स्त्री पुरुष का समागम होता है तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से थक जाती है।

अथ सत्योऽर्थः

(यद्देवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं कृत्वेमं (विष्टीमिनं) विविधतया आर्द्रीभावगुणवन्तं (ललामगुं) सुखप्रापकं विद्यानन्दं प्राविशुः प्रकृष्टतया समन्ताद्व्याप्नुवन्ति, तथैव तैस्तेन सह वर्त्तमानेयं प्रजा

देदिश्यते । यथा नारी वस्त्रैराच्छाद्यमानेन सक्थ्ना वर्त्तते तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति ।

भाषार्थ

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुखदायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को भी युक्त करते हैं। विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि अङ्गों को वस्त्रों से सदा ढाँप रखती है इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें ।

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते । शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायति ॥ य० अ० २३ । मं० ३० ॥

महीधरस्यार्थः

भाष्यम्

क्षत्ता पालागलीमाह । शूद्रा शूद्रजातिः स्त्री, यदा अर्य्यजारा भवति, वैश्यो यदा शूद्रां गच्छति, तदा शूद्रः पोषाय न धनायते, पुष्टिं न इच्छति, मद्भार्य्या वैश्येन भुक्ता सती पुष्टा जातेति न मन्यते, किन्तु व्यभिचारिणी जातेति दुःखितो भवतीत्यर्थः । (यद्धरिणो०) पालागली क्षत्तारमाह । यत् यदा शूद्रः अर्य्यायै अर्य्याया वैश्याया जारो भवति, तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानुमन्यते, मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते, किन्तु शूद्रेण नीचेन भुक्तेति क्लिश्यतीत्यर्थः ।

महीधर का अर्थ

भाषार्थ

(यद्धरिणो०) क्षत्ता सेवकपुरुष शूद्रदासी से कहता है कि जब शूद्र की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है, तब वह इस बात को नहीं विचारता कि मेरी स्त्री वैश्य के साथ व्यभिचार करने से पुष्ट हो गई किन्तु वह इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचारिणी हो गई । (यद्धरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि जब शूद्र वैश्य की स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है, तब वैश्य भी इस बात का अनुमान नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट हो गई, किन्तु नीच ने समागम कर लिया इस बात को विचार के क्लेश मानता है ।

सत्योऽर्थः

यद्धरिणो यवमत्तीति । विड्वै यवो राष्ट्रं हरिणो विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति । न पुष्टं पशुं मन्यत इति । तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति । शूद्रा यदर्य्यजारा न पोषाय धनायतीति । तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति ॥ श० कां० १३ । अ० २ । ब्रा० ६ । कं० ८ ॥

भाष्यम्

(यद्धरिणो०) विट् प्रजेव यवोऽस्ति । राज्यसम्बन्ध्येको राजा हरिण इव उत्तमपदार्थहर्त्ता भवति । यथा मृगः क्षेत्रस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति । अतः स राष्ट्राय स्वसुखप्रयोजनाय विशं प्रजामाद्यां भक्ष्यमिव करोति । यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसभक्षणेच्छां करोति, नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते । तथैव स्वसुखसम्पादनाय प्रजायां कश्चिन् मत्तोऽधिको न भवेदितीच्छां सदैव रक्षति, तस्मादेको राजा प्रजां न पोषयति, नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति । यथा च यदा शूद्रा अर्य्यजारा भवति तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति, पुष्टो न भवति । तथैको राजापि प्रजां यदा न पोषयति तदा सा नैव पोषाय धनायति, पुष्टा न भवति । तस्मात्कारणाद्वैशीपुत्रं भीरुं शूद्रापुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति, नैवैतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः । अस्माच्छतपथब्राह्मणोक्तादर्थान्महीधरकृतोऽर्थोऽतीव विरुद्धोऽस्ति ।

भाषार्थ

(यद्धरिणो०) यहां प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है, क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में यवों को खाकर आनन्दित होते हैं वैसे ही स्वतन्त्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है । अथवा (न पुष्टं पशुं मन्यते०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उस का मांस खा जाता है वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है, क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है । और शूद्र तथा वैश्य का अभिषेक करने से व्यभिचार और प्रजा का धनहरण अधिक होता है । इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये । इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही चला है ।

उत्सक्थ्या अवं गुदं धेहि समञ्जिं चारया वृषन्। यः स्त्रीणां जीवभोजनः ॥ य० अ० २३। मं० २१ ॥

महीधरस्यार्थः

यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते। हे वृषन् ! सेक्तः अश्व ! उत् ऊर्ध्वे सक्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या, गुदमव गुदोपरि, रेतो धेहि, वीर्य्यं धारय। कथम्। तदाह, अञ्जिं लिङ्गं सञ्चारय योनौ प्रवेशय। योऽञ्जिः स्त्रीणां जीवभोजनः। यस्मिन् लिङ्गे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) इस मन्त्र पर महीधर ने टीका की है कि यजमान घोड़े से कहता है, हे वीर्य के सेवन करने वाले अश्व ! तू मेरी स्त्री के जंघा ऊपर को करके उस की गुदा के ऊपर वीर्य डालदे अर्थात् उस की योनि में लिङ्ग चलादे। वह लिङ्ग किस प्रकार का है कि जिस समय योनि में जाता है उस समय उसी लिङ्ग से स्त्रियों का जीवन होता है और उसीसे वे भोग को प्राप्त होती हैं। इससे तू उस लिङ्ग को मेरी स्त्री की योनि में डाल दे।

अथ सत्योऽर्थः

(उत्सक्थ्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक सभाध्यक्षविद्वन् ! त्वमस्यां प्रजायामञ्जिं ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं संचारय सम्यक् प्रकाशय। (यः स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचरति तं त्वमगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कालाग्रहे (कारागृहे ?) धेहि। यथा स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति तस्यै सम्यग्दण्डं ददाति तथैव त्वं तं जीव भोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं दस्युं दण्डेन समुच्चारय।

भाषार्थ

(उत्सक्थ्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामना की वृष्टि करने वाले और उसको प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो ! तुम सब एकसंमति होकर इस प्रजा में ज्ञान को बढ़ाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो। तथा जो कोई दुष्ट

(जीवभोजनः) स्त्रियों में व्यभिचार करनेवाला, चोरों में चोर, ठगों में ठग, डाकुओं में डाकू प्रसिद्ध, दूसरों को बुरे काम सिखाने वाला इत्यादि दोषयुक्त पुरुष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्री को ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना इत्यादि अत्यन्त दुर्दशा करके मार डालना चाहिये, क्योंकि इससे अत्यन्त सुख का लाभ प्रजा में होगा ।

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य वेददीपाख्यस्य खण्डनं सर्वैर्जनैर्बोद्धव्यमिति । यदा मन्त्रभाष्यं मया विधास्यते तत्रास्य महीधरकृतस्य भाष्यस्यान्येपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते । यदि ह्यार्य्यदेशनिवासिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्यागतिरस्ति तर्हि यूरोपखण्डनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानानामनर्थगतेस्तु का कथा । एवं जाते सति ह्येतदाश्रयेण देशभाषया यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति, इति सज्जनैर्विचारणीयम् । नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमार्य्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशश्च । तस्मात्तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या । किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति, नैव किञ्चित्तेषु मिथ्यात्वमस्ति, तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति यदा चतुर्णां वेदानां निर्मितं भाष्यं यन्त्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भविष्यति । एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम् ।

आगे कहांतक लिखें इतने ही से सज्जन पुरुष अर्थ और अनर्थ की परीक्षा कर लेवें । परन्तु मन्त्रभाष्य में महीधर आदि के और भी दोष प्रकाश किये जायंगे और जब इन्हीं लोगों के व्याख्यान अशुद्ध हैं तब यूरोपखण्डवासी लोगों ने जो उन्हीं की सहायता लेकर अपनी देशभाषा में वेदों के व्याख्यान किये हैं उनके अनर्थ का तो क्या ही कहना है । तथा जिन्होंने उन्हीं के अनुसारी व्याख्यान किये हैं इन विरुद्ध व्याख्यानों से कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता, किन्तु वेदों के सत्य अर्थ की हानि प्रत्यक्ष ही होती है । परन्तु जिस समय चारों वेद का भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानों के ज्ञानगोचर होगा तब सब किसी को उत्तमविद्यापुस्तक वेद का परमेश्वररचित होना भूगोल भर में विदित हो जावेगा और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्यपुस्तक वेद ही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है । ऐसा निश्चय जान

के सब मनुष्यों की वेदों में परमप्रीति होगी । इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्य के बनाने में जान लेना ।

इति भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः समाप्तः

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते

अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राऽग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः । कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशथ-पथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृषि-कृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योस्ति । तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते । कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातञ्जलयो-गशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोस्तीत्यतः । एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि । कुतः । अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं काण्डत्रयेण बोधाभिष्पत्युप-कारौ गृह्येते तच्च विज्ञानकाण्डम् । परन्त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तर-स्तद्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः । मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः । एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदा-त्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रछन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । स्वराः षड्जऋ-षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३ । सू० ६४ ॥ इति पिङ्गलाचार्य्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिछन्दः स्वरा लेखिष्यन्ते । कुतः । इदानीं यच्छन्दोन्वितो यो मन्त्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः । एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा विज्ञेयाः । तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमन्त्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन संयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसन्देहनिवृत्तिर्भविष्यति । अत्र वेदमन्त्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते । यत्र यत्र

व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते । येनेदानीन्तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामन्त्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धि च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्य्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्द्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणर्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्य्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते । अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोस्ति तस्य तस्य द्वा द्वावर्थौ विधास्येते । परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति । कुतः । निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्यास्मिन् कार्य्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात् । कार्य्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च । यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च । एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे कृते तस्मिन्कार्य्याऽर्थसम्बन्धात्सोप्यर्थ आगच्छतीति ।

भाषार्थ

इस वेदभाष्य में शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकाण्ड का वर्णन करेंगे । परन्तु लोगों के कर्मकाण्ड में लगाये हुए वेदमन्त्रों में से जहां जहां जो जो कर्म अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध के अन्तपर्य्यन्त करने चाहियें उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा, क्योंकि उनके अनुष्ठान का यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथादि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौत और गृह्यसूत्रादिकों में कहा हुआ है । उसी को फिर कहने से पिसे को पीसने के समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषों के लेख के समान दोष इस भाष्य में भी आ जा सकता है । इसलिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है उसी को मानना योग्य है, अयुक्त को नहीं । ऐसे ही उपासनाकाण्डविषयक मन्त्रों के विषय में भी पातञ्जल, सांख्य, वेदान्तशास्त्र और उपनिषदों की रीति से ईश्वर की उपासना जान लेना । परन्तु केवल मूलमन्त्रों ही के अर्थानुकूल का अनुष्ठान और प्रतिकूल का परित्याग करना चाहिये । क्योंकि जो जो मन्त्रार्थ वेदोक्त हैं सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वर के कहे हुए हैं और जो जो ग्रन्थ वेदों से भिन्न हैं वे केवल वेदार्थ के अनुकूल होने से ही

प्रामाणिक हैं, ऐसे न हों तो नहीं । ऐसे ही व्याकरणादि शास्त्रों के बोध से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, एकश्रुति आदि स्वरों का ज्ञान और उच्चारण तथा पिङ्गल सूत्र से छंदों और षड्जादि स्वरों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये । जैसे "अग्निमीडे०" यहां अकार के नीचे अनुदात्त का चिह्न, (ग्नि) उदात्त है इसलिये उस पर चिह्न नहीं लगाया गया है, (मी) के ऊपर स्वरित का चिह्न है, (डे) में प्रचय और एकश्रुति स्वर है, यह बात ध्यान में रखना । इसी प्रकार जो जो व्याकरणादि के विषय लिखने के योग्य होंगे वे सब संक्षेप से आगे लिखे जायंगे, क्योंकि मनुष्यों को उनके समझने में कठिनता होती है इसलिये उनके साथ में अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों के भी विषय लिखे जायंगे कि जिनके सहाय से वेदों का अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके । इस भाष्य में पद पद का अर्थ पृथक् २ क्रम से लिखा जायगा कि जिससे नवीन टीकाकारों के लेख से जो वेदों में अनेक दोषों की कल्पना की गई है उन सब की निवृत्ति होकर उनके सत्य अर्थों का प्रकाश हो जायगा । तथा जो जो सायण, माधव, महीधर और अङ्गरेजी वा अन्य भाषा में उलथे वा भाष्य किये जाते वा गये हैं तथा जो जो देशान्तरभाषाओं में टीका हैं उन अनर्थव्याख्यानों का निवारण होकर मनुष्यों के वेदों के सत्य अर्थों के देखने से अत्यन्त सुखलाभ पहुंचेगा । क्योंकि विना सत्यार्थप्रकाश के देखे मनुष्यों की भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती । जैसे प्रामाण्याप्रामाण्य विषय में सत्य और असत्य कथाओं के देखने से भ्रम की निवृत्ति हो सकती है ऐसे ही यहां भी समझ लेना चाहिये । इत्यादि प्रयोजनों के लिये इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है ।

इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः

(प्रश्नः) अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति ? । (उत्तरम्) भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय । (प्र०) कास्ताः ? । (उ०) त्रिधा गानविद्या भवति, गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलम्बितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन ह्रस्वस्वरोच्चारणं क्रियते ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति ।

अत एवैकस्यापि मन्त्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोस्ति । तद्यथा । ऋग्भिस्स्तुवन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिर्गायन्ति । ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोस्ति । तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रियया ऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति । तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्य्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः । एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति । (प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति ? (उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मन्त्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसन्धानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् । (प्र०) वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्ककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्तीत्यत्र ब्रूमः । (उ०) अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमन्त्रपरिगणनं, प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति । (प्र०) किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्याक्रमेण परिगणिताः सन्तीत्यत्रोच्यते । (उ०) न यावद् गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च । नचाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति, तया विना सुखाभावश्चेति । एतद्विद्याविधायकत्वादृग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योस्ति । एवं च यथापदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसम्पादनं कार्य्यं भवति । यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद्द्वितीयः परिगणितोस्तीति बोध्यम् । तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति, किञ्चैतेषां फलं भवति, सामवेद एतद्विधायकत्वात्तृतीयो गण्यत इति । एवमेवाथर्ववेदस्त्र्यन्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति । अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानोन्नतिशेषविद्यारक्षणानां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात्क्रमेणर्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति । ऋच स्तुतौ । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु । साम सान्त्वने, षो अन्तकर्मणि । थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः ॥ निरु० अ० ११ । खं० १८ ॥ चर संशये । अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते । एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम् ।

भाषार्थ

(प्र०) वेदों के चार विभाग क्यों किये हैं ? । (उ०) भिन्न भिन्न विद्या

जनाने के लिये अर्थात् जो तीन प्रकार की गानविद्या है, एक तो यह कि उदात्त और षड्जादि स्वरों का उच्चारण ऐसी शीघ्रता से करना जैसा कि ऋग्वेद के स्वरों का उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्ति में होता है, दूसरी मध्यमवृत्ति जैसे कि यजुर्वेद के स्वरों का उच्चारण ऋग्वेद के मन्त्रों से दूने काल में होता है, तीसरी विलम्बित वृत्ति है जिसमें प्रथमवृत्ति से तिगुना काल लगता है जैसा कि सामवेद के स्वरों के उच्चारण वा गान में, फिर उन्हीं तीनों वृत्तियों के मिलाने से अथर्ववेद का भी उच्चारण होता है परन्तु इसका द्रुतवृत्ति में उच्चारण अधिक होता है इसलिये वेदों के चार विभाग हुए हैं। तथा कहीं कहीं एक मन्त्र का चार वेदों में पाठ करने का यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकार की गानविद्या में गाया जावे, तथा प्रकरणभेद से कुछ कुछ अर्थभेद भी होता है इसलिये कितने ही मन्त्रों का पाठ चारों वेदों में किया जाता है। ऐसे ही (ऋग्भिस्स्तु०) ऋग्वेद में सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है जिससे उनमें प्रीति बढ़कर उपकार लेने का ज्ञान प्राप्त होसके, क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञान के संस्कार और प्रवृत्ति का आरम्भ नहीं हो सकता और आरम्भ के विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थ ही चला जाता है। इसलिये ऋग्वेद की गणना प्रथम ही की है। तथा यजुर्वेद में क्रियाकाण्ड का विधान लिखा है सो ज्ञान के पश्चात् ही कर्त्ता की प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है। क्योंकि जैसा ऋग्वेद में गुणों का कथन किया है वैसा ही यजुर्वेद में अनेक विद्याओं के ठीक ठीक विचार करने से संसार में व्यवहारी पदार्थों से उपयोग सिद्ध करना होता है, जिन से लोगों को नाना प्रकार का सुख मिले। क्योंकि जबतक कोई क्रिया विधिपूर्वक न कीजाय तबतक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता। इसलिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसा ही करना भी चाहिये, तभी ज्ञान का फल और ज्ञानी की शोभा होती है। तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत् का उपकार मुख्य करके दो ही प्रकार का होता है एक आत्मा और दूसरा शरीर का। अर्थात् विद्यादान से आत्मा और श्रेष्ठ नियमों से उत्तम पदार्थों की प्राप्ति करके शरीर का उपकार होता है। इसलिये ईश्वर ने ऋग्वेदादि का उपदेश किया है कि जिन से मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्ड को पूर्ण रीति से जान लेवें। तथा सामवेद से ज्ञान और आनन्द की उन्नति और अथर्ववेद से सर्व संशयों की निवृत्ति होती है। इसलिये इनके चार विभाग किये हैं। (प्र०) प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रम से चार वेद क्यों गिने हैं ?। (उ०) जबतक गुण और गुणी का ज्ञान मनुष्यों को नहीं होता तब

पर्य्यन्त उन में प्रीति से प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इस के विना शुद्ध क्रियादि के अभाव से मनुष्यों को सुख भी नहीं हो सकता था, इसलिये वेदों के चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति होसके । क्योंकि जैसे इस गुणगान विद्या को जनाने से पहिले ऋग्वेद की गणना योग्य है वैसे ही पदार्थों के गुणज्ञान के अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत् का अच्छी प्रकार से हित भी सिद्ध हो सके इस विद्या के जनाने के लिये यजुर्वेद की गिनती दूसरी वार की है । ऐसे ही ज्ञान, कर्म और उपासनाकाण्ड की वृद्धि वा फल कितना और कहांतक होना चाहिये इसका विधान सामवेद में लिखा है इसलिये उस को तीसरा गिना है । ऐसे ही तीन वेदों में जो जो विद्या हैं उन सब के शेष भाग की पूर्त्ति, विधान, सब विद्याओं की रक्षा और संशयनिवृत्ति के लिये अथर्ववेद को चौथा गिना है । सो गुणज्ञान, क्रियाविज्ञान इनकी उन्नति तथा रक्षा को पूर्वापर क्रम से जानलेना । अर्थात् ज्ञानकाण्ड के लिये ऋग्वेद, क्रियाकाण्ड के लिये यजुर्वेद, इनकी उन्नति के लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओं के प्रकाश करने के लिये अथर्ववेद की प्रथम, दूसरी, तीसरी और चौथी करके संख्या बांधी है । क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु) (षोन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्चरतिकर्मा) इन अर्थों के विद्यमान होने से चार वेदों अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व की ये चार संज्ञा रक्खी हैं । तथा अथर्ववेद का प्रकाश ईश्वर ने इसलिये किया है कि जिससे तीनों वेदों की अनेक विद्याओं के सब विघ्नों का निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकार से होसके । (प्र०) वेदों की चार संहिता करने का क्या प्रयोजन है ? । (उ०) विद्या के जानने वाले मन्त्रों के प्रकरण से जो पूर्वापर का ज्ञान होना है उससे वेदों में कही हुई सब विद्या सुगमता से जानली जाय, इत्यादि प्रयोजन संहिताओं के करने में हैं । (प्र०) अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदों में जो अष्टक, अध्याय, मंडल, सूक्त, षट्क, कांड, वर्ग, दशति, त्रिक और अनुवाक रक्खे हैं ये किसलिये हैं ? । (उ०) इनका विधान इसलिये है कि जिससे पठन पाठन और मन्त्रों की गिनती विना कठिनता से जानली जाय तथा सब विद्याओं के पृथक् २ प्रकरण निर्भ्रमता के साथ विदित होकर सब विद्याव्यवहारों में गुण और गुणों के ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होने से अनुवृत्तिपूर्वक आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके, इत्यादि प्रयोजन के लिये अष्टकादि किये हैं ।

भाष्यम्

(प्रश्नः) प्रत्येकमन्त्रस्योपरि ऋषिदेवताच्छन्दःस्वराः किमर्था लिख्यन्ते ? । (उत्तरम्) यतो वेदनामीश्वरोक्तयनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तदृषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः । यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मन्त्रार्थस्य प्रकाशितत्वात्, तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्त्रस्योपरि कर्त्तुं योग्यमस्त्यतः । अत्र प्रमाणम् । यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा, किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुरुपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च । बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः समानकर्माणो धातवो, धातुर्दधातेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानं, नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्येनेदमिति, तद्यदन्यदैवतं मन्त्रे निपतति नैघण्टुकं तत् ॥ निरु० अ० १ । खं० २० ॥ (यो वाचं) यो मनुष्योऽर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तदफलं भवति । (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह । (उत्तरम्) विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् । य एवं ज्ञात्वा कुर्वन्ति त ऋषयो भवन्ति । कीदृशास्ते साक्षात्कृतधर्माणः ? । यैः सर्वा विद्या यथावद्विदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरभ्योऽसाक्षात्कृतवेदेभ्यो मनुष्येभ्य उपदेशेन वेदमन्त्रान्सम्प्रादुः, मन्त्रार्थांश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै प्रयोजनाय ? । उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त ऋषयः समाम्नासिषुः, सम्यगभ्यासं कारितवन्तः । येन वेदं वेदाङ्गानि यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्माणो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते, अस्यार्थस्यैतावन्ति नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम, अर्थादेकस्यार्थस्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् । यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते तत्र सैवेयं मन्त्रमयी देवता विज्ञेया । यच्च मन्त्राद्भिन्नार्थस्यैव सङ्केतः प्रकाश्यते तदपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति । अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मन्त्रानिर्मातेति विज्ञेयम् । एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मन्त्रस्यार्थः प्रकाशितोऽस्ति तस्य तस्य ऋषेरेकैकमन्त्रस्य सम्बन्धे नामोल्लेखः कृतोऽस्ति ।

तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य यो योऽर्थोस्ति सः सोर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रायार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् । एवं च यस्य यस्य मन्त्रस्य गायत्र्यादि छन्दोस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोलेखनम् । तथा यस्य यस्य मन्त्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्वमेतद्विज्ञेयम् ।

भाषार्थ

(प्र०) प्रति मन्त्र के साथ ऋषि, देवता, छंद और स्वर किसलिये लिखते हैं ? । (उ०) ईश्वर जिस समय आदि सृष्टि में वेदों का प्रकाश कर चुका तभी से प्राचीन ऋषि लोग वेदमन्त्रों के अर्थों का विचार करने लगे, फिर उनमें से जिस २ मन्त्र का अर्थ जिस २ ऋषि ने प्रकाशित किया उस उसका नाम उसी उसी मन्त्र के साथ स्मरण के लिये लिखा गया है । इसी कारण से उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वर के ध्यान और अनुग्रह से बड़े बड़े प्रयत्न के साथ वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत् जानकर सब मनुष्यों के लिये पूर्ण उपकार किया है इसलिये विद्वान् लोग वेदमन्त्रों के साथ उनका स्मरण रखते हैं । इस विषय में अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं (यो वाचं०) । जो मनुष्य अर्थ को समझे विना अध्ययन वा श्रवण करते हैं उनका सब परिश्रम निष्फल होता है । (प्र०) वाणी का फल क्या है ? । (उ०) अर्थ को ठीक ठीक जान के उसी के अनुसार व्यवहारों में प्रवृत्त होना वाणी का फल है । और जो लोग इस नियम पर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं । इसलिये जिन्होंने सब विद्याओं को यथावत् जाना था वे ही ऋषि हुए थे, जिन्होंने अपने उपदेश से अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्यों को वेदमन्त्रों के अर्थों का प्रकाश कर दिया है । (प्र०) किस प्रयोजन के लिये ? । (उ०) वेदप्रचार की परंपरा स्थिर रहने के लिये । तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़ने को कम समर्थ हैं वे जिससे सुगमता से वेदार्थ जान लेवें इसलिये निघण्टु और निरुक्त आदि ग्रन्थ भी बना दिये हैं कि जिन के सहाय से सब मनुष्य वेद और वेदाङ्गों को ज्ञानपूर्वक पढ़कर उन के सत्य अर्थों का प्रकाश करें । निघण्टु उस को कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्म वाले धातुओं की व्याख्या, एक पदार्थ को अनेकार्थ तथा अनेक अर्थों का एक नाम से प्रकाश और मन्त्रों से भिन्न अर्थों का संकेत है । और निरुक्त उसका नाम है कि जिस में वेदमन्त्रों की व्याख्या है । और जिन २ मन्त्रों

में जिन २ पदार्थों की प्रधानता से स्तुति की है उनके मन्त्रमय देवता जानने चाहियें, अर्थात् जिस २ मन्त्र का जो जो अर्थ होता है वही उसका देवता कहाता है । सो यह इसलिये है कि जिससे मन्त्रों को देख के उनके अभिप्रायार्थ का यथार्थज्ञान हो जाय, इत्यादि प्रयोजन के लिये देवताशब्द मन्त्र के साथ में लिखा जाता है । ऐसे ही जिस २ मन्त्र का जो २ छन्द है सो भी उसके साथ इसलिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों को छन्दों का ज्ञान भी यथावत् होता रहे । तथा कौन कौन सा छन्द किस किस स्वर में गाना चाहिये इस बात को जनाने के लिये उनके साथ में षड्जादि स्वर लिखे जाते हैं, जैसे गायत्री छन्दवाले मन्त्रों को षड्ज स्वर में गाना चाहिये । ऐसे ही और और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गानविद्या में भी प्रवीण हों । इसीलिये वेद में प्रत्येक मन्त्रों के साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं ।

भाष्यम्

(प्र०) वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः किमर्थः कृतोस्ति ? । (उ०) पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं विद्यासंग्यनुषङ्गिप्रतिविद्यानुषङ्गिबोधार्थं चेति । तद्यथा । अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं भवति । यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भवन्ति । यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात्प्रथमं गृह्यते । तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानन्तबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्रकाश्यन्ते । यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्याधारकत्वात्तदनुषङ्गित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति तथैव वाय्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति । यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्य्यवत्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति । तथा भौतिकेन वायुनाप्युत्तमैश्वर्य्यप्राप्तिर्मनुष्यैः क्रियते । एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति । अश्विशब्देन शिल्पविद्यायां यानचलनादिव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रकाशादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्त्येतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमश्विशब्दप्रयोगो वेदेषु कृतोस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्त्वशब्दार्थसम्बन्धरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वाग्व्यवहारश्च । इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादि शब्दानां ग्रहणं कृतमस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनुष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते ।

भाषार्थ

(प्र०) वेदों में अनेक वार अग्नि, वायु, इन्द्र, सरस्वती आदि शब्दों का प्रयोग किसलिये किया है ? । (उ०) पूर्वापर विद्याओं के जनाने के लिये अर्थात् जिस जिस विद्या में जो जो मुख्य और गौण हेतु हैं उनके प्रकाश के लिये ईश्वर ने अग्नि आदि शब्दों का प्रयोग पूर्वापर सम्बन्ध से किया है । क्योंकि अग्नि शब्द से ईश्वर और भौतिक आदि कितने ही अर्थों का ग्रहण होता है, इस प्रयोजन से कि उसका अनन्त ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणों का बोध मनुष्यों को यथावत् हो सके, फिर इसी अग्निशब्द से पृथिव्यादि भूतों के बीचमें जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है वह शिल्पविद्या का मुख्य हेतु होने के कारण उसका ग्रहण प्रथम ही किया है । तथा ईश्वर के सब को धारण करने और उसके अनन्त बल आदि गुणों का प्रकाश जनाने के लिये वायुशब्द का ग्रहण किया गया है, तथा शिल्पविद्या में अग्नि का सहायकारी और मूर्त्तद्रव्य का धारण करने वाला मुख्य वायु ही है इसलिये प्रथम सूक्त में अग्नि का और दूसरे में वायु का ग्रहण किया है । तथा ईश्वर के अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायु से योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्या से उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति करने के लिये इन्द्र शब्द का ग्रहण तीसरे स्थान में किया है, क्योंकि अग्नि और वायु की विद्या से मनुष्यों को अद्भुत अद्भुत कलाकौशलादि बनाने की युक्ति ठीक ठीक जान पड़ती हैं । तथा अश्विशब्द का ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में इसलिये किया है कि उससे ईश्वर की अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो, क्योंकि शिल्पविद्या में विमान आदि यान चलाने के लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थ ही मुख्य होते हैं, अर्थात् जितने कलायन्त्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं वे सब पूर्वोक्त प्रकार से पृथिव्यादि पदार्थों से ही बनते हैं, इसलिये अश्विशब्द का पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थान में किया है । तथा सरस्वती नाम परमेश्वर की अनन्त वाणी का है कि जिससे उसकी अनन्तविद्या जानी जाती है, तथा जिस करके उसने सब मनुष्यों के हित के लिये अपनी अनन्तविद्यायुक्त वेदों का उपदेश भी किया है, इसलिये तीसरे सूक्त और पांचवें स्थान में सरस्वती शब्द का पाठ वेदों में किया है । इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना ।

(प्र०) वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः प्रसिद्धिर्जायते वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति । यत आरम्भे खल्वीश्वरशब्दप्रयोगो नैव

कुतोस्ति ? । (उ०) व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणमिति महाभाष्यकारेण पतञ्जलिमहामुनिना (लण्) इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसन्देहनिवृत्तिर्भवतीति । कुतः । वेदवेदाङ्गोपाङ्गब्राह्मणग्रन्थेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात् । तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा सन्देहनिवृत्तिर्न भवति । ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति । तयोर्मध्यात्कस्य ग्रहणं कर्त्तव्यमिति शङ्कायां व्याख्यानत एव सन्देहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति । एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति । अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रैर्ग्रन्थैरपि विद्यालेखपूर्त्तिरत्यन्तासम्भवास्ति । अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः । यतोऽल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणात्र मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति । परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योपदेशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम् । तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते । कुतः । ईश्वरोस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम् । एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात्काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संक्षेपतो लिखिता इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते । तत्र यस्मिन् यस्मिन् मन्त्रे या या विद्योपदिष्टाऽस्ति सा सा तस्य तस्य मन्त्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते ।

भाषार्थ

(प्र०) वेद के आरम्भ में अग्नि वायु आदि शब्दों के प्रयोग से यह सिद्ध होता है कि जगत् में जिन पदार्थों का नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है उन्हीं का ग्रहण करना चाहिये और इसीलिये लोगों ने उन शब्दों से संसार के अग्नि आदि पदार्थों को मान भी लिया है, नहीं तो उचित था कि जो जो शब्द जहां जहां होना चाहिये था वहां वहां उसी का ग्रहण करते कि जिससे कभी किसी को भ्रम न होता, अथवा आरम्भ में उन शब्दों की जगह ईश्वर परमेश्वरादि शब्दों ही का ग्रहण करना था ? । (उ०) यूं तो ऐसा करने से भी भ्रम हो सकता है, परन्तु जब कि व्याख्यानों के द्वारा मन्त्रों के पद पद का अर्थ खोल दिया गया है तब उनके देखने से सब संदेह आप से आप ही निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि शिक्षा आदि अङ्ग वेद-

मन्त्रों के पद पद का अर्थ ऐसी रीति से खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थों में किसी प्रकार का संदेह शेष नहीं रह सकता, और जो कदाचित् ईश्वर शब्द का प्रयोग करते तो भी विना व्याख्यान के संदेह की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्य वाले राजादि मनुष्यों का भी हो सकता है, और किसी २ की ईश्वरसंज्ञा ही होती है। तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दों का ही प्रयोग करते तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रन्थ वेदों के बन जाने का संभव था, परन्तु विद्या का पारावार फिर भी नहीं आता, और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़पढ़ा सकते, इस प्रयोजन अर्थात् सुगमता के लिये ईश्वर ने अग्न्यादि शब्दों का प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करने वाली विद्याओं का प्रकाश किया है कि जिससे मनुष्य लोग थोड़े ही काल में मूल विद्याओं को जान लें। इसी मुख्य हेतु से सब के सुखार्थ परमकरुणामय परमेश्वर ने अग्न्यादि सुगम शब्दों के द्वारा वेदों का उपदेश किया है। इसलिये अग्न्यादि शब्दों के अर्थ जो संसार में प्रसिद्ध हैं उनसे भी ईश्वर का ग्रहण होता है, क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वर ही के जानने और जनाने के लिये हैं। इस प्रकार चारों वेदों में जो २ विद्या हैं उनमें से कोई २ विद्या तो इस वेदभाष्य की भूमिका में संक्षेप से लिख दी है, शेष सब इसके आगे जब मन्त्रभाष्य में जिस जिस मन्त्र में जिस जिस विद्या का उपदेश है सो २ उसी २ मन्त्र के व्याख्यान में यथावत् प्रकाशित कर देंगे।

भाष्यम्

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता, आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना। अथापि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि। स्तोतव्यानि। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना॥ निरु० अ० ७। खं० १। २॥ अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र सङ्गच्छते। तद्यथा। सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति। केचित्परोक्षाणां, केचित्प्रत्यक्षाणां, केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः। तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति, अपरेषु मध्यमस्य, तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च। तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ

द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतव्या अर्थाः परोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति । अस्यायमभिप्रायः । व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति । तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति । इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्य्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जड़पदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ।

भाषार्थ

अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगों के विशेष नियम संक्षेप से कहते हैं । जो जो नियम निरुक्तकारादि ने कहे हैं वे बराबर वेदों के सब प्रयोगों में लगते हैं (तास्त्रिविधा ऋचः), वेदों के सब मन्त्र तीन प्रकार के अर्थों को कहते हैं । कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थों को, कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थों को और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्मा को । उनमें से परोक्ष अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में प्रथम-पुरुष अर्थात् अपने और दूसरे के कहने वाले जो सो और वह आदि शब्द हैं, तथा उनकी क्रियाओं के अस्ति, भवति, करोति, पचतीत्यादि प्रयोग हैं । एवं प्रत्यक्ष अर्थ के कहने वालों में मध्यमपुरुष अर्थात् तू तुम आदि शब्द और उनकी क्रिया के असि, भवसि, करोषि, पचसीत्यादि प्रयोग हैं । तथा अध्यात्म अर्थ के कहने वाले मन्त्रों में उत्तमपुरुष अर्थात् मैं हम आदि शब्द और उनकी अस्मि, भवामि, करोमि, पचामीत्यादि क्रिया आती हैं । तथा जहां स्तुति करने के योग्य परोक्ष और स्तुति करने वाले प्रत्यक्ष हों वहां भी मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है । यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि व्याकरण की रीति से प्रथम, मध्यम और उत्तम अपनी अपनी जगह होते हैं । अर्थात् जड़ पदार्थों में प्रथम, चेतन में मध्यम वा उत्तम होते हैं । सो यह तो लोक और वेद के शब्दों में साधारण नियम है । परन्तु वेद के प्रयोगों में इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकार के उक्त नियम से मध्यम पुरुष का प्रयोग होता है और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वर ने संसारी जड़ पदार्थों को प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना

जनाया है, दूसरा प्रयोजन नहीं है। परन्तु इस नियम को नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदों के भाष्यकारों तथा उन्हींके बनाये हुए भाष्यों के अवलम्ब से यूरोपदेशवासी विद्वानों ने भी जो वेदों के अर्थों को अन्यथा कर दिया है सो यह उनकी भूल है और इसीसे वे ऐसा लिखते हैं कि वेदों में जड़ पदार्थों की पूजा पाई जाती है जिसका कि कहीं चिह्न भी नहीं है।

भाष्यम्

अथ वेदार्थोपयोगितया संक्षेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते। ते स्वरा द्विधा, उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति। तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतञ्जलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते। स्वयं राजन्त इति स्वराः। आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। आयामो गात्राणां निग्रहः, दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता, अणुता कण्ठस्य, कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि * शब्दस्य। अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता, खस्येति नीचैः † कराणि शब्दस्य। अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता, मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता, उरुता खस्य महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य। त्रैस्वर्य्येणाधीमहे, त्रिप्रकारैरज्भिरधीमहे, कैश्चिदुदात्तगुणैः, कैश्चिदनुदात्तगुणैः, कैश्चिदुभयगुणैः। तद्यथा। शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते, कल्माष इति वा,सारङ्ग इति वा। एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः, अनुदात्तोऽनुदात्तगुणः, य इदानीमुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति। ते एते तन्त्रे तरनिर्देशे ‡ सप्त स्वरा भवन्ति। उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः, अनुदात्ततरः, स्वरितः, स्वरिते यः उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः॥ अ० १। पा० २॥ उच्चैरुदात्त इत्याद्युपरि॥ तथा षड्जादयः सप्त। षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः॥ १॥ पिंगलसूत्रे अ० ३। सू० ६४॥ एषां लक्षणव्यवस्था गान्धर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या। अत्र तु ग्रन्थभूयस्त्वभिया लेखितुमशक्या।

भाषार्थ

अब वेदार्थ के उपयोगहेतु से कुछ स्वरों की व्यवस्था कहते हैं, जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेद से चौदह (१४) प्रकार के हैं, अर्थात् सात उदात्तादि और

* उदात्तविधायकानीति यावत्। † अनुदात्तविधायकानीति यावत्॥

‡ अतिशयार्थद्योतके तरपप्रत्ययस्य निर्देशे॥

सात षड्जादि । इनमें से उदात्तादिकों के लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतञ्जलि महामुनिजी ने दिखलाए हैं उनको कहते हैं । (स्वयं राजन्त०) आप ही अर्थात् जो कि विना सहाय दूसरे के प्रकाशमान हैं वे स्वर कहाते हैं । (आयामः०) अङ्गों का रोकना, (दारुण्यं०) वाणी को रूखा करना अर्थात् ऊंचे स्वर से बोलना और (अणुता०) कण्ठ को भी कुछ रोक देना, ये सब यत्न शब्द के उदात्त विधान करनेवाले होते हैं अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमों के अनुकूल बोला जाता है । तथा (अन्वव) गात्रों का ढीलापन, (मार्दव०) स्वर की कोमलता, (उरुता०) कण्ठ को फैला देना, ये सब यत्न शब्द के अनुदात्त करनेवाले हैं । (त्रैस्वर्य्येण०), हम सब लोग तीन प्रकार के स्वरों से बोलते हैं, अर्थात् कहीं उदात्त, कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरों से यथायोग्य नियमानुसार अक्षरों का उच्चारण करते हैं । जैसे श्वेत और काला रङ्ग अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों को मिला कर जो रङ्ग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है अर्थात् खाखी वा आसमानी, इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग अलग हैं, परन्तु इन दोनों के मिलाने से जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं । विशेष अर्थ के दिखाने वाले (तरप्) प्रत्यय के संयोग से वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं, अर्थात् उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरितोदात्त और एकश्रुति । उक्त रीति से इन सातों स्वरों को ठीक ठीक समझ लेना चाहिये । अब षड्जादि स्वरों को लिखते हैं जो कि गानविद्या के भेद हैं । (स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद । इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गन्धर्ववेद अर्थात् गानविद्या के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं उनको देख लेना चाहिये । यहां ग्रन्थ बढ़जाने के कारण नहीं लिखते ।

भाष्यम्

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति त इदानीं प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा । वृद्धिरादैच् ॥ १ ॥ अ० १ । १ । १ ॥ उभय संज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते, तद्यथा, ससुष्टुभा स ऋक्कता गणेन, पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जश्त्वं न भवति, इति भाष्यवचनम् । अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्य्यद्वयं वेदेष्वेव भवति, नान्यत्र ॥ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ २ ॥ अ० १ । १ । ५६ ॥ प्रातिपदिकानिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति, न काञ्चित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति, यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या, इति भाष्यम् । अनेना-

र्थप्राधान्यं भवति न विभक्तेरिति बोध्यम् ॥ न वेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १ । १ । ४४ ॥ अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः, इति भाष्यसूत्रम् । लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः ॥ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४ ॥ अ० १ । २ । ४५ ॥ बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति । तद्यथा । इन्द्रः, शक्रः, पुरुहूतः, पुरन्दरः, कन्दुः, कोष्ठः, कुसूल इति । एकश्च शब्दो बह्वर्थः । तद्यथा । अक्षाः, पादाः, माषाः, सार्वत्रिकोयमपि नियमः । यथाग्न्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च ॥ ते प्राग्धातोः ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ८० ॥ छन्दसि परव्यवहितवचनं च । आयातमुपनिष्कृतम् । उपप्रयोभिरागतम् । अनेन वार्त्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति ।

भाषार्थ

अब चारों वेद में व्याकरण के जो जो सामान्य नियम हैं उन को यहां लिखते हैं । (उभ०) वेदों में एक शब्द के बीच में (भ) तथा (पद) ये दोनों संज्ञा होती हैं । जैसे (ऋकता) इस शब्द में पदसंज्ञा के होने से चकार के स्थान में ककार हुआ है और भ संज्ञा के होने से ककार के स्थान में गकार नहीं हुआ । (प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रों में जो जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सब के बीच में यह नियम है कि जिस विभक्ति के साथ वे शब्द पढ़े हों उसी विभक्ति से अर्थ कर लेना यह बात नहीं है, किन्तु जिस विभक्ति से शास्त्र मूल युक्ति और प्रमाण के अनुकूल अर्थ बनता हो उस विभक्ति का आश्रय करके अर्थ करना चाहिये, क्योंकि (अर्थग०) वेदादि शास्त्रों में शब्दों के प्रयोग इसलिये होते हैं कि उनके अर्थों को ठीक ठीक जानके उनसे लाभ उठावें, जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किसलिये माने जावें, इसलिये यह नियम लोकवेद में सर्वत्र घटता है । (बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोक में बहुत शब्द एक अर्थ के वाची होते और एक शब्द भी बहुत अर्थों का वाची होता है । जैसे अग्नि, वायु, इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थ के वाची और इसी प्रकार वे ही शब्द संसारी पदार्थों के नाम होने से अनेकार्थ हैं, अर्थात् इस प्रकार के एक एक शब्द कई कई अर्थों के वाची हैं । (छन्दसि०) व्याकरण में जो जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं वे वेद में क्रिया के आगे पीछे दूर अर्थात् व्यवधान में भी होते हैं । जैसे (उपप्रयोभिरागतं) यहां आगतं क्रिया के

साथ उप लगता तथा (आयातमुप०) यहां उप आयात क्रिया के पूर्व लगता है, इत्यादि । इसमें विशेष यह है कि लोक में पूर्वोक्त शब्द क्रिया के पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं ।

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ ६ ॥ अ० २ । ३ । ६२ ॥ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति । तस्या इति प्राप्ते । एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात् । बहुलं छन्दसि ॥ ७ ॥ अ० २ । ४ । ३९ । अनेन अद्धातोः स्थाने घस्लृ आदेशो बहुलं भवति । घस्तान्नूनम् । सग्धिश्च मे । अत्तामद्य मध्यतो मेद उद्भृतम् । इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम् ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ८ ॥ अ० २ । ४ । ७३ । वेदविषये शपो बहुलं लुग्भवति । वृत्रं हनति । अहिः शयते । अन्येभ्यश्च भवति । त्राध्वं नो देवाः । बहुलं छन्दसि ॥ ९ ॥ अ० २ । ४ । ७६ । वेदेषु शपः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति । दाति प्रियाणि धाति प्रियाणि । अन्येभ्यश्च भवति । पूर्णां विवष्टि । जनिमा विवक्ति । इत्यादीन्युदाहरणानि सन्तीति बोध्यम् ।

भाषार्थ

(या खर्वेण०) इत्यादि पाठ से यही प्रयोजन है कि वेदों में षष्ठीविभक्ति के स्थान में चतुर्थी हो जाती है, लौकिक ग्रन्थों में नहीं । इस में ब्राह्मणों के उदाहरण इसलिये दिये हैं कि महाभाष्यकार ने ब्राह्मणों को वेदों के तुल्य मानके अर्थात् इन में जो व्याकरण के कार्य्य होते हैं वे ब्राह्मणों में भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो (द्वितीया ब्राह्मणे) इस सूत्र में से ब्राह्मण शब्द की अनुवृत्ति हो जाती फिर (चतुर्थ्यर्थे०) इस सूत्र में (छन्दः) शब्द का ग्रहण व्यर्थ हो जाय । (बहुलं०) इस सूत्र से (अद्) धातु के स्थान में घस्लृ आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है । (बहुलं०) वेदों में शप् प्रत्यय का लुक् बहुल करके होता है और कहीं नहीं भी होता जैसे (वृत्रं हनति) यहां शप् का लुक् प्राप्त था सो भी न हुआ तथा (त्राध्वं०) यहां त्रैङ् धातु से प्राप्त नहीं था परन्तु हो गया । महाभाष्यकार के नियम से शप् के लुक् करने में श्यनादि का लुक् होता है, क्योंकि शप् के स्थान में श्यनादि का आदेश किया जाता है । शप् सामान्य होने से सब धातुओं से होता है, जब शप् का लुक् हो गया तो श्यनादि

प्राप्त ही नहीं होते । ऐसे ही श्लु के विषय में भी समझ लेना (बहुलं) वेदों में शप् प्रत्यय के स्थान में श्लु आदेश बहुल करके होता है अर्थात् उक्त से भी नहीं होता और अनुक्त से भी हो जाता है । जैसे (दाति०) यहां शप् के स्थान में श्लु प्राप्त था परन्तु न हुआ और (विवष्टि) यहां प्राप्त नहीं फिर हो गया ।

भाष्यम्

सिब् बहुलं लेटि ॥ १० ॥ अ० ३ । १ । ३४ ॥ सिब्बहुलं छन्दसि णिद्वक्तव्यः । सविता धर्मं साविषत् । प्र ण आयूंषि तारिषत् । अयं लेटि विशिष्टो नियमः ॥ छन्दसि शायजपि ॥ ११ ॥ अ० ३ । १ । ८४ ॥ शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम् । क । सर्वत्र, हौ चाहौ च । किं प्रयोजनम् । महीः अस्कभायत् । यो अस्कभायत् । उद्ग्रभायत् । उन्मथायतेत्येवमर्थम् । अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे विशिष्टो नियमः ॥ व्यत्ययो बहुलम् ॥ १२ ॥ अ० ३ । १ । ८५ ॥ सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्त्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥१॥ व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति । अनेन विकरणव्यत्ययः । सुपां व्यत्ययः । तिङां व्यत्ययः । वर्णव्यत्ययः । लिङ्गव्यत्ययः । पुरुषव्यत्ययः कालव्यत्ययः । आत्मनेपदव्यत्ययः । परस्मैपदव्यत्ययः । स्वरव्यत्ययः । कर्त्तृव्यत्ययः । यङ्व्यत्ययश्च । एषां क्रमेणोदाहरणानि । युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः । दक्षिणायामिति प्राप्ते । चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति । तक्ष्णुवन्तीति प्राप्ते । त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम् । शुधितमिति प्राप्ते । मधोस्तृप्ता इवासते । मधुन इति प्राप्ते । अधा स वीरैर्दशभिर्वियूयाः । वियूयादिति प्राप्ते श्वोऽग्नीनाधास्यमानेन श्वः सोमेन यक्ष्यमाणेन । आधाता यष्टेति प्राप्ते । ब्रह्मचारिणमिच्छते । इच्छतीति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति । युध्यत इति । आधाता यष्टेति लुट्प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ, व्यत्ययो भवति । स्यादीनामित्यस्योदाहरणं, तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ १३ ॥ अ० ३ । २ । ८८ ॥ अनेन क्विप्प्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते । मातृहा । मातृघातः । इत्यादीनि ॥ छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३ । २ । १०५ ॥ वेदेषु सामान्यभूते लिट् विधीयते । अहं द्यावापृथिवी आततान ॥ लिटः कानज्वा ॥ १५ ॥ अ० ३ । २ । १०६ ॥ वेदविषये लिटः स्थाने कानजादेशो वा भवति । अग्निं चिक्यानः । अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श । प्रकृतेपि

लिटि पुनर्ग्रहणात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति । क्वसुश्च ॥ १६ ॥ अ० ३ । २ । १०७ ॥ वेदे लिटः स्थाने क्वसुरादेशो वा भवति । पपिवान् । जग्मिवान् । नच भवति । अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्श । क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ ३ । २ । १७० ॥ क्यप्रत्ययान्ताद्धातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्त्तृषु उकारप्रत्ययो भवति । मित्रयुः । संस्वेदयुः । सुम्नयुः । निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धकस्यापि ग्रहणं भवतीत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन ग्रहणं भवति ।

भाषार्थ

(सिब्बहुलं०) लेट् लकार में जो सिप् प्रत्यय होता है वह वेदों में बहुल कर के णित्संज्ञक होता है कि जिससे वृद्धि आदि कार्य होसकें । जैसे (साविषत) यहां सिप् को णित् मान के वृद्धि हुई है, यह लेट् में वेदविषयक विशेष नियम है । शायच्छन्दसि०) वेद में (हि) प्रत्यय के परे श्ना प्रत्यय के स्थान में जो शायच् आदेश विधान किया है वह (हि) से अन्यत्र भी होता है । (व्यत्ययो०) वेदों में जो व्यत्यय अर्थात विपरीतभाव बहुधा होता है वह भाष्यकार पतञ्जलिजी ने नव प्रकार से माना है । वे सुप् आदि ये हैं सुप्, तिङ्, वर्ण, (लिङ्ग) पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग, (पुरुष) प्रथम, मध्यम और उत्तम, (काल) भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, आत्मनेपद और परस्मैपद, (वर्ण) वेदों में अचों के स्थान में हल् और हलों के स्थान में अच् के आदेश हो जाते हैं, स्वर उदात्तादि का व्यत्यय, कर्त्ता का व्यत्यय और यङ् का व्यत्यय होते हैं । इन सब के उदाहरण संस्कृत में लिखे हैं वहां देख लेना । (बहुलम्०) इस से क्विप् प्रत्यय वेदों में बहुल करके होता है । (छन्दसि०) इस सूत्र से लिट् लकार वेदों में सामान्य भूतकाल में भी होता है । (लिटः का०) इस सूत्र से वेदों में लिट् लकार के स्थान में कानच् आदेश विकल्प कर के होता है, इस के (आततान) इत्यादि उदाहरण बनते हैं । (छन्दसि०) इस सूत्र में से लिट् की अनुवृत्ति हो जाती फिर लिट्ग्रहण इसलिये है कि (परोक्षे लिट्) इस लिट् के स्थान में भी कानच् आदेश हो जावे। (क्वसुश्च) इस सूत्र से वेदों में लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हो जाता है । (क्या) इस सूत्र से वेदों में क्यप्रत्ययान्त धातु से (उ) प्रत्यय हो जाता है ।

भाष्यम्

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥ १८ ॥ अ० ३ । ३ । ११३ ॥ कृल्ल्युट इति वक्तव्यम् ।

कृतो बहुलमिति वा । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां ह्रियते पादहारकः । अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कारकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको नियमोऽस्तीति वेद्यम् ॥ छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ १९ ॥ अ० ३ । ३ । १२९ ॥ ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यश्छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति । उ० सूपसदनोऽग्निः ॥ अन्येभ्योपि दृश्यते ॥ २० ॥ अ० ३ । ३ । १३० ॥ अन्येभ्यश्च धातुभ्यो युच्प्रत्ययो दृश्यते । उ० सुदोहनमाकृणोद्ब्रह्मणे गाम् ॥ छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ॥ २१ ॥ ३ । ४ । ६ ॥ वेदविषये धातुसम्बन्धे सर्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ० लुङ्–अहं तेभ्योऽकरं नमः । लङ्, अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः । लिट्–अद्य ममार ॥ लिङर्थे लेट् ॥ २१ ॥ अ० ३ । ४ । ७ ॥ यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्तिकेष्वर्थेषु लिङ् विधीयते । तत्र वेदेष्वेव लेट्लकारो वा भवति । उ० जीवाति शरदः शतमित्यादीनि । उपसंवादाशंकयोश्च ॥ २३ ॥ अ० ३ । ४ । ८ ॥ उपसंवादे आशंकायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ० (उपसंवादे) अहमेव पशूनामीशै । आशंकायाम् । नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरकपात आशंक्यते ॥ लेटो डाटौ ॥ २४ ॥ अ० ३ । ४ । ९४ ॥ लेटः पर्यायेण अट्आट्आगमौ भवतः । आत ऐ ॥ २५ ॥ अ० ३ । ४ । ९५ ॥ छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहितस्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति । उ० मन्त्रयैते । मन्त्रयैथे । वैतोऽन्यत्र ॥ २६ ॥ अ० ३ । ४ । ९६ ॥ आत ऐ इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा भवति । उ० अहमेव पशूनामीशै ईशे वा ॥ इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ॥ २७ ॥ अ० ३ । ४ । ९७ ॥ लेटः स्थाने आदिष्टस्य तिबादिस्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ० तरति, तराति, तरत्, तरात्, तरिषति, तरिषाति, तरिषत्, तरिषात्, तारिषति, तारिषाति, तारिषत्, तारिषात्, तरसि, तरासि, तरः, तराः, तरिषसि, तरिषासि, तरिषः, तरिषाः, तारिषसि, तारिषासि, तारिषः, तारिषाः, तरामि, तराम्, तरिषामि, तरिषाम्, तारिषामि, तारिषाम्, एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेड्विषये बोध्यम् ॥ स उत्तमस्य ॥ २८ ॥ अ० ३ । ४ । ९८ ॥ लेट उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । करवाव, करवावः, करवाम, करवामः ।

भाषार्थ

(छन्दसि०) इस सूत्र से ईषत्, दुर्, सु ये पूर्वपद लगे हों तो गत्यर्थक धातुओं से वेदों में युच् प्रत्यय होता है । (अन्येभ्यो०) और धातुओं से भी वेदों में युच् प्रत्यय देखने में आता है, जैसे (सुदोहनं) यहां सुपूर्वक दुह धातु से युच् प्रत्यय हुआ है । (छन्दसि०) जो तीन लकार लोक में भिन्न भिन्न कालों में होते हैं वे वेदों में लुङ्, लङ् और लिट् लकार ये सब कालों में विकल्प करके होते हैं । (लिङर्थे०) अब लेट् लकार के विषय के जो सामान्यसूत्र हैं उन को यहां लिखते हैं । यह लेट् लकार वेदों में ही होता है । सो यह लिङ् लकार के जितने अर्थ हैं उन में तथा उपसंवाद और आशङ्का इन अर्थों में लेट् लकार होता है । (लेटो०) लेट् को क्रम से अट् और आट् आगम होते हैं अर्थात् जहां अट् होता है वहां आट् नहीं होता जहां आट् होता है वहां अट् नहीं होता । (आत ऐ) लेट् लकार में प्रथम और मध्यम पुरुष के (आतां) के आकार को ऐकार आदेश हो जाता है, जैसे (मन्त्रयैते) यहां आ के स्थान में ऐ होगया है । (वैतोन्यत्र) यहां लेट् लकार के स्थान में जो एकार होता है उसके स्थान में ऐकार आदेश हो जाता है । (इतश्च०) यहां लेट् के तिप्, सिप् और मिप् के इकार का लोप विकल्प से हो जाता है । (स उत्त०) इस सूत्र से लेट् लकार के उत्तम पुरुष के वस्मस् के सकार का विकल्प करके लोप हो जाता है । यह लेट् का विषय थोड़ासा लिखा, आगे किसी को सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़ के जान सकता है, अन्यथा नहीं ।

भाष्यम्

तुमर्थे सेसेनसेअसेन्कसेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः ॥ २६ ॥ अ० ३ । ४ । ६ ॥ धातुमात्रात्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थे से, सेन, असे, असेन्, कसे, कसेन्, अध्यै, अध्यैन्, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन्, तवै, तवेङ्, तवेन्, इत्येते पञ्चदश प्रत्यया वेदेष्वेव भवन्ति । कृन्मेजन्त इति सर्वेषामव्ययत्वम् । सर्वेषु नकारोऽनुबन्धः स्वरार्थः । ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः । ङकारोपि । शकारः शिदर्थः । (से) वक्षेरायः, (सेन्) तावामेषे रथानाम्, (असे असेन्) क्रत्वे दक्षाय जीवसे, (कसे कसेन्) श्रियसे, (अध्यै अध्यैन्) कर्मण्युपाचरध्यै, (कध्यै) इन्द्राग्नी आहुवध्यै, (कध्यैन्) श्रियध्यै, (शध्यै शध्यैन्) पिबध्यै, सहमादयध्यै, अत्र शित्वात् पिबादेशः, (तवै) सोमामिन्द्राय पातवै, (तवेङ्)

दशमे मासि सूतवे, (तवेन्) स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ शकि णमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥ अ० ३ । ४ । १२ ॥ शक्नोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात्तुमर्थे वेदेषु णमुल्कमुलौ प्रत्ययौ भवतः । णकारो वृद्ध्यर्थः । ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः । लकारः स्वरार्थः । अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्, विभक्तुमित्यर्थः ॥ ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ अ० ३ । ४ । १३ ॥ ईश्वरशब्द उपपदे वेदे तुमर्थे वर्त्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः । ईश्वरोभिचरितोः । कसुन् । ईश्वरो विलिखः ॥ कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः ॥ ३२ ॥ अ० ३ । ४ । १४ ॥ कृत्यानां मुख्यतया भावकर्म्मणी द्वावर्थौ स्तोऽर्हादयश्च । तत्र वेदविषये तवै, केन्, केन्य, त्वन्, इत्येते प्रत्यया भवन्ति । (तवै) परिधातवै, (केन्) नावगाहे, (केन्य) दिदृक्षेण्यः शुश्रूषेण्यः, (त्वन्) कर्त्वं हविः ।

भाषार्थ

(तुमर्थे०) इस सूत्र से वेदों में (से) इत्यादि १५ (पन्द्रह) प्रत्यय सब धातुओं से हो जाते हैं । (शकि०) शक धातु का प्रयोग उपपद हो तो धातुमात्र से (णमुल्) (कमुल्) ये दोनों प्रत्यय वेदों में हो जाते हैं, इस के होने से (विभाजं) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं । (ईश्वरे०) वेदों में ईश्वर शब्दपूर्वक धातु से (तोसुन्) (कसुन्) ये प्रत्यय होते हैं । (कृत्यार्थे०) इस सूत्र से वेदों में भावकर्मवाचक (तवै) (केन्) (केन्य) (त्वन्) ये प्रत्यय होते हैं, इससे (परिधातवै) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ।

भाष्यम्

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४ । १ । २९ ॥ अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति । गौः पञ्चदाम्नी, एकदाम्नी ॥ नित्यं छन्दसि ॥ ३४ ॥ अ० ४ । १ । ४६ ॥ बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति । बह्वीषु हित्वा प्रपिबन् ॥ भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४ । ४ । ११० ॥ सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति । अयमणादीनां घादीनां चापवादः । सति दर्शने तेपि भवन्ति, मेध्याय च विद्युत्याय च नमः । इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्य्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति तान्यत्र न लिख्यन्ते, कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मन्त्रेष्वागमिष्यन्ति

तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ अ० ५ । २ । १२२॥ वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद्भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते । तद्यथा । भूमादयः ॥ तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ३७ ॥ अ० ५ । २ । ६४ ॥ भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेतिशायने, सम्बन्धेस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम् । (बहुलं) अस्मिन्सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्त्तिकानि सन्ति, तानि तत्तद्विषयेषु प्रकाशयिष्यामः ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ३८ ॥ अ० ५ । ४ । १०३ ॥ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वेति वक्तव्यम् । ब्रह्म सामं ब्रह्म साम, देवच्छन्दसं, देवच्छन्दः ॥ सन्यङोः ॥ ३९ ॥ अ० ६ । १ । ९ ॥ बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति । तद्यथा । वपिः प्रकरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्त्तते, केशान्वपति । ईडिः स्तुतिचोदनायां चासु दृष्ट ईरणे चापि वर्त्तते, अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतोऽमुतश्च्यावयन्ति । करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः निर्मलीकरणे चापि वर्तते, पृष्ठं कुरु पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते । निक्षेपणेपि वर्तते, कटे कुरु घटे कुरु । अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते । एतन्महाभाष्यवचनेनैतद्विज्ञातव्यम्, धातुपाठे येऽर्था निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येपि बहवोऽर्था भवन्ति, त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य दर्शितत्वात् ॥ शेश्छन्दसि बहुलम् ॥ ४० ॥ अ० ६ । १ । ७० ॥ वेदेषु नपुंसके वर्तमानस्य शेर्लोपो बहुलं भवति । यथा विश्वानि भुवनानीति प्राप्ते विश्वाभुवनानीति भवति ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४१ ॥ अ० ६ । १ । ३४ ॥ अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सम्प्रसारणं बहुलं विधीयते । यथा हूमहे इत्यादिषु ॥ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४२ ॥ अ० ६ । १ । १२७ ॥ ईषा अक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ईषा अक्षा ईमिरे, इत्याद्यप्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः ॥ देवताद्वन्द्वे च ॥ ४३ ॥ अ० ६ । ३ । २६ ॥ देवतयोर्द्वन्द्वसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते । ङित्त्वादन्त्यस्य स्थाने भवति । उ० सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, इन्द्राबृहस्पती इत्यादीनि । अस्य सूत्रस्योपरि द्वे वार्तिके स्तः । तद्यथा । देवताद्वन्द्वे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः ॥ अग्निवायू, वाय्वग्नी ॥ ब्रह्मप्रजापत्यादीनां च ॥ ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ । सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते, सार्वत्रिको

नियमः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥ अ० ७ । १ । ८ ॥ अनेनात्मनेपदसंज्ञस्य झकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ०, देवा अदुह्र ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४५ ॥ अ० ७ । १ । १० ॥ अनेन वेदेषु भिसः स्थाने एस् बहुलं विधीयते । यथा देवेभिर्मानुषे जने ॥ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥ ४६ ॥ अ० ७ । १ । ३९ ॥ सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । तिङां च तिङो भवन्तीति वक्तव्यम् । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । इया, दार्विया परिज्मन् । डियाच्, सुमित्रिया न आप०, सुक्षेत्रिया, सुगातुया (सुगात्रिया ?) । ईकार, दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् । आङ्याजयारां चोपसंख्यानम् । आङ्, प्रवाहवा । अयाच्, स्वप्नया वाव सेचनम् । अयार्, स नः सिन्धुमिव नावया । सुप्, लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल्, इया, डियाच्, ई, आङ्, अयाच्, अयार्, वैदिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुबाद्ययारान्ताः षोडशादेशा विधीयन्ते । तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः । (सुप्) ऋजवः सन्तु पन्था, पन्थान इति प्राप्ते । (लुक्) परमे व्योमन्, व्योम्नीति प्राप्ते । (पूर्वसवर्ण) धीती मती, धीत्या मत्या इति प्राप्ते । (आत्) उभा यन्तारा इति उभौ यन्तारौ प्राप्ते । (शे) न युष्मे वाजबन्धवः, यूयमिति प्राप्ते । (या) उरुया, उरुणा इति प्राप्ते । (डा) नाभा पृथिव्याः, नाभौ इति प्राप्ते । (ड्या) अनुष्ट्या, अनुष्टुभा इति प्राप्ते । (याच्) साधुया, साधु इति प्राप्ते । (आल्) वसन्ता यजेत, वसन्ते इति प्राप्ते ॥ आज्जसेरसुक् ॥ ४७ ॥ ७ । १ । ५० ॥ अनेन प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वं असुक् इत्ययमागमो विहितः । उ०, विश्वे देवास आगत, विश्वेदेवा इति प्राप्ते । एवं दैव्यासः । तथैवान्यान्यपि ज्ञातव्यानि ।

भाषार्थ

(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्र से वेदों में अनन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय होता है । (नित्यं) इस सूत्र में बह्वादि प्रातिपदिकों से वेदों में ङीष् प्रत्यय नित्य होता है । (भवे०) इस सूत्र से भव अर्थ में प्रातिपदिक मात्र से वेदों में यत् प्रत्यय होता है । इस सूत्र से आगे पादपर्य्यन्त सब सूत्र वेदों ही में लगते हैं, सो यहां इसलिये नहीं लिखे कि वे एक एक बात के विशेष हैं, सो जिस जिस मन्त्र में विषय आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे । (बहुलं०) इस सूत्र से प्रातिपदिकमात्र से विन् प्रत्यय वेदों में मतुप् के अर्थ में बहुल करके होता है । इस सूत्र के ऊपर वैदिक शब्दों के

लिये वार्त्तिक बहुत हैं, परन्तु विशेष हैं इसलिये नहीं लिखे । (अनसन्ता०) इस सूत्र से वेदों में समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है । (बह्वर्था अपि०) इस महाभाष्यकार के वचन से यह बात समझनी चाहिये कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं । जैसे (ईड) धातु का स्तुति करना तो धातुपाठ में अर्थ पढ़ा है और चोदना आदि भी समझे जाते हैं, इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये । (बहुलं०) इससे धातुओं को अप्राप्त संप्रसारण होता है । (शेश्छ०) इस से प्रथमा विभक्ति जो जस् के स्थान में नपुंसकलिंग में (शि) आदेश होता है इसका लोप वेदों में बहुल से हो जाता है । (ईषा०) इस नियम से अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदों में होता है । (देवताद्व०) इस सूत्र से दो देवताओं के द्वन्द्वसमास में पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है, जैसे (सूर्याचन्द्रमसौ०) यहां सूर्या शब्द दीर्घ होगया है । और इस सूत्र से जिस कार्य का विधान है उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्तिकों से विशेष शब्दों में दिखाते हैं, जैसे (इन्द्रवायू) यहां इन्द्र शब्द को दीर्घ नहीं हुआ । यह नियम लोक और वेद में सर्वत्र घटता है । (बहुलं०) इस सूत्र से प्रथम पुरुष के बहुवचन आत्मनेपद में ऊ प्रत्यय को रुट् का आगम होता है । (बहुलं०) इससे भिस् के स्थान में ऐस्भाव बहुल करके होता है । (सुपां सु०) इससे सब विभक्तियों के सब वचनों के स्थान में (सुप्) आदि १६ आदेश होते हैं । (आज्जसे०) इस सूत्र से वेदों में प्रथमाविभक्ति का बहुवचन जो जस् है उसको असुक् का आगम होता है, जैसे (दैव्याः) ऐसा होना चाहिये वहां (दैव्यासः) ऐसा हो जाता है, इत्यादि जान लेना चाहिये ।

भाष्यम्

बहुलं छन्दसि ॥ ४८ ॥ अ० ७ । ३ । ६७ ॥ वेदेषु यत्र क्वचिदीडागमो दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ४६ ॥ अ० ७ । ४ । ७८ ॥ अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते ॥ छन्दसीरः ॥ ॥ ५० ॥ अ० ८ । २ । १५ ॥ अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्वं विधीयते । उ० रेवान् इत्यादि । कृपो रो लः ॥ ५१ ॥ अ० ८ । २ । १८ ॥ संज्ञाछन्दसोर्वा कपिलकादीनामिति वक्तव्यम् । कपिलका । कपरिका । इत्यादीनि ॥ घिच ॥ ५२ ॥ अ० ८ । २ । २५ ॥ घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सिज्ग्रहणं न तत् । छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्त्तारमध्वरे ॥ १ ॥

उ० निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यतेऽप्राप्तवि-भाषेयम् ॥ दादेर्धातोर्घः ॥ ५३ ॥ अ० ८ । २ । ३२ ॥ हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य भत्वं वक्तव्यम् । उ० गर्दभेन संभरति । मरुद्भ्य गृभ्णाति ॥ मतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि ॥ ५४ ॥ अ० ८ । ३ । १ ॥ वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च सम्बुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति । गोमः । हरिवः । मीढ्वः ॥ वा शरि ॥ ५५ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ ॥ वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः । वृक्षाः स्थातारः । अनेन वायवस्थ इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्ये नायं सार्वत्रिको नियमः ।

भाषार्थ

(बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में ईट् का आगम होता है । (बहुलं०) इस सूत्र से वेदों में धातु के अभ्यास को इकारादेश हो जाता है । (छन्दसीरः) इससे वेदों में मतुप् प्रत्यय के मकार को वकारादेश हो जाता है । (संज्ञा०) इससे वेदों में रेफ को लकार विकल्प करके होता है । (घसि०) इससे वेदों में किसी किसी अक्षर का कहीं कहीं लोप हो जाता है । (हृग्रहो०) इससे वेदों में हृ और ग्रह के हकार को भकार हो जाता है । (मतु०) इससे वेदों में मतुप् और वसु के नकार को रु होता है ।

भाष्यम्

उणादयो बहुलम् ॥ ५६ ॥ अ० ३ । ३ । १ ॥ बहुलवचनं किमर्थम् ? । "बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः" । तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । "प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम्" । प्रायेण खल्वपि ते समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । "कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम्"। कार्य्याणि खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणा-दयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किञ्च कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । किञ्च कारणं कार्य्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । "नैगमरूढिभवं हि सुधासु" । नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः कथं स्युः । "नाम च धातुजमाह निरुक्ते" । नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः । "व्या-करणे शकटस्य च तोकम्" । वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम् । "यत्र विशेषपदार्थ-

समुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्" । प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या । संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे । कार्य्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ ३ ॥ (बाहुलकं०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योपि भवन्ति । एवं प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः किन्तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिड्डौ भवतः । तथा सूत्रैर्विहितानि कार्य्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव । (किं पुनः०) अनेनैतच्छंक्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रे कार्य्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः । अत्रोच्यते । (नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति । (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः, (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपत्यं शाकटायनः, तोकमित्यस्यापत्यनामसु ॥ निघ० २ । २ ॥ पठितत्वात् । (यन्न०) यत् विशेषात्पदार्थाभ्न सम्यगुत्थितमर्थात्प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न व्युत्पन्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊह्यः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । एतदूहनं क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह । संज्ञाशब्देषु, धातुरूपाणि पूर्वमूह्यानि परे च प्रत्ययाः । (कार्य्याद्वि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुबन्धान् जानीयात्, एतत्सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ।

भाषार्थ

(उणादयो०) इस सूत्र के ऊपर महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि उणादिपाठ की व्यवस्था बांधते हैं कि (बाहुलकं०) उणादिपाठ में थोड़े से धातुओं से प्रत्ययविधान किया है सो बहुल के होने से वे प्रत्यय अन्य धातुओं से भी होते हैं । इसी प्रकार प्रत्यय भी उस ग्रन्थ में थोड़े से नमूना के लिये पढ़े हैं इन से अन्य भी नवीन प्रत्यय शब्दों में देखकर समझ लेना चाहिये । जैसे (ऋफिडः) इस शब्द में ऋ धातु से फिड प्रत्यय समझा जाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये । तथा जितने शब्द उणादिगण से सिद्ध होते हैं उन में जितने कार्य्य सूत्रों करके होने चाहियें वे सब नहीं होते हैं, सो भी बहुल ही का प्रताप है । (किं पुनः) इस में जो कोई ऐसी शंका करे कि उणादिपाठ में जितने धातुओं से जितने प्रत्यय विधान किये और जितने

कार्य्य शब्दों की सिद्धि में सूत्रों से हो सकते हैं उनसे अधिक क्यों होते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदों में जितने शब्द हैं तथा संसार में असंख्य संज्ञाशब्द हैं ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये पूर्वोक्त तीन प्रकार के कार्य्य बहुलवचन से उणादि में होते हैं, जिसके होने से अनेक प्रकार के हजारहा शब्द सिद्ध होते हैं। (नाम०) अब इस विषय में निरुक्तकारों का ऐसा मत है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे सब धातु और प्रत्ययों से बराबर सिद्ध होने चाहियें तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं उन में से शाकटायन ऋषि का मत निरुक्तकारों के समान है और इन से भिन्न ऋषियों का मत यह है कि संज्ञाशब्द जितने हैं वे रूढ़ी हैं। अब इस बात का विचार करते हैं कि जिन शब्दों में धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहां क्या करना चाहिये। उन शब्दों में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरणशास्त्र में जितने धातु और प्रत्यय हैं इन में से जो धातु मालूम पड़ जाय तो नवीन प्रत्यय की कल्पना कर लेनी और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातु की कल्पना कर लेनी, इस प्रकार उन शब्दों का अर्थ विचार लेना चाहिये। और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दों में जिस अनुबन्ध का कार्य्य दीखे वैसा ही धातु वा प्रत्यय अनुबंध के सहित कल्पना करनी। जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उस में (ञ्) अथवा (न्) अनुबन्ध के सहित प्रत्यय समझना। यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना, किन्तु जो संज्ञाशब्द लोक वेद से प्रसिद्ध हों उनके अर्थ जानने के लिये शब्द के आदि के अक्षरों में धात्वर्थ की और अन्त में प्रत्ययार्थ की कल्पना करनी चाहिये। ये सब ऋषियों का प्रबन्ध इसलिये है कि शब्दसागर अथाह है, इस की थाह व्याकरण से नहीं मिल सकती। जो कहे कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागर के पार पहुंच जाते तो यह समझना कि कितने ही पोथा बनाते और जन्मजन्मान्तरों भर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता। इसलिये यह सब पूर्वोक्त प्रबन्ध ऋषियों ने किया है जिससे शब्दों की व्यवस्था मालूम हो जाय।

भाष्यम्

अथालङ्कारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते। तत्र तावदुपमालङ्कारो व्याख्यायते। पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति ॥ अस्योदाहरणम्। स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥ १ ॥ उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा। तत्र वाचकलुप्तोदाहरणम्। भीम इव बली भीमबली। धर्मलुप्तोदाहरणम्। कमल-

नेत्रः ॥ २ ॥ धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम् । व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः ॥ ३ ॥ वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम् । विद्यया पण्डितायन्ते ॥ ३ ॥ उपमानलुप्ता ॥ ५ ॥ वाचकोपमानलुप्ता ॥ ६ ॥ धर्मोपमानलुप्ता ॥ ७ ॥ धर्मोपमानवाचकलुप्ता ॥ ८ ॥ आसामुदाहरणम् । काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा ॥ १ ॥ अतोऽग्रे रूपकालङ्कारः । स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामाधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालङ्कारः । स च षड्धा । तत्राधिकाभेदरूपकोदाहरणम् । अयं हि सविता साक्षाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविद्य इति शेषः ॥ १ ॥ न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम् । अयं पतञ्जलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना ॥ २ ॥ अनुभयाभेदरूपकोदाहरणम् । ईशः प्रजामवत्यद्य स्वीकृत्य समनीतिताम् ॥ ३ ॥ आधिकताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । विद्यानन्दे हि सम्प्राप्ते राज्यानन्देन किं तदा ॥ ४ ॥ न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । साध्वीयं सुखदा नीतिरसूर्य्यप्रभवा मता ॥ ५ ॥ अनुभयताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । अयं घनावृतात्सूर्य्याद्विद्यासूर्य्यो विभज्यते ॥ ६ ॥ अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः । स च त्रिविधः । प्रकृतानेकविषयः । अप्रकृतानेकविषयः । प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च । तत्र प्रकृतविषयस्योदाहरणम् । यथा नवकम्बलोऽयं मनुष्यः । अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति द्वावर्थौ भवतः । यथा च श्वेतो धावति । अलंबुसानां यातेति । तथैव अग्निमीडे इत्यादि । अप्रकृतविषयस्योदाहरणम् । हरिणा त्वद्बलं तुल्यं कृतिना हितशक्तिना। अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम् । उच्चरन्भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः । एवंविधा अन्येपि बहवोऽलङ्काराः सन्ति । ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र तत्र व्याख्यायिष्यन्ते ।

भाषार्थ

अब कुछ अलङ्कारों का विषय संक्षेप से लिखते हैं । उन में से पाहिले उपमालङ्कार के आठ (८) भेद हैं—वाचकलुप्ता १, धर्मलुप्ता २, धर्मवाचकलुप्ता ३, वाचकोपमेय लुप्ता ४, उपमानलुप्ता ५ वाचकोपमानलुप्ता ६, धर्मोपमानलुप्ता ७ और धर्मोपमान वाचकलुप्ता ८ । इन आठों से पूर्णोपमालङ्कार पृथक् है, जिस में ये सब बने रहते हैं । उस का लक्षण यह है कि वह चार पदार्थों से बनता है, एक तो उपमान, दूसरा उपमेय, तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारणधर्म । इनमें से उपमान उसको कहते हैं कि जिस पदार्थ की उपमा दी जाती है । उपमेय वह कहाता है कि

जिसको उपमान के तुल्य वर्णन करते हैं। उपमावाचक उस को कहते हैं कि जो तुल्य, समान, सदृश, इव, वत् इत्यादि शब्दों के बीच में आने से किसी दूसरे पदार्थ के समान बोध करावे। साधारणधर्म वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय इन दोनों में बराबर वर्त्तमान रहता है इन चारों के वर्त्तमान होने से पूर्णोपमा और इन में से एक एक के लोप हो जाने से पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं। पूर्णोपमा का उदाहरण यह है कि (स नः पितेव०)। जैसे पिता अपने पुत्र की सब प्रकार से रक्षा करता है वैसे ही परमेश्वर भी सब का पिता अर्थात् पालन करने वाला है। इसके आगे दूसरे रूपकालङ्कार के छः भेद हैं—अधिकाभेदरूपक १, न्यूनाभेदरूपक २, अनुभयाभेदरूपक ३, अधिकताद्रूप्यरूपक ४, न्यूनताद्रूप्यरूपक ५ और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६। इसका लक्षण यह है कि उपमेय को उपमान बना देना और उस में भेद नहीं रखना। जैसे यह मनुष्य साक्षात् सूर्य्य है, क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाश से अविद्यारूप अन्धकार का नाश नित्य करता है इत्यादि। तीसरा श्लेषालङ्कार कहाता है। उस के तीन भेद हैं-प्रकृत १, अप्रकृत २ और प्रकृताप्रकृतविषय ३। जिस का लक्षण यह है कि किसी एक वाक्य वा शब्द से अनेक अर्थ निकलें वह श्लेष कहाता है। जैसे नवकम्बल इस शब्द से दो अर्थ निकलते हैं। एक नव हैं कम्बल जिसके, दूसरा नवीन है कम्बल जिस का। इसी प्रकार वेदों में अग्नि आदि शब्दों के कई २ अर्थ होते हैं सो श्लेषालंकार का ही विषय है। इस प्रकार के और भी बहुत अलंकार हैं सो जहां जहां वेदभाष्य में आवेंगे वहां वहां लिखे जायंगे।

भाष्यम्

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः। विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्वम्॥ १ ऋ० मं० १। सू० ८९। मं० १०॥ अस्मिन्मन्त्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति तेऽपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते। नैवास्य मन्त्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम्।

भाषार्थ

(अदिति०) इस मन्त्र में अदिति शब्द के बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्द के हैं। परन्तु इस मन्त्र में जितने हैं वे सब वेदभाष्य में अवश्य लिये जायंगे। इस मन्त्र को वारंवार न लिखेंगे, किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायंगे। वे अर्थ

ये हैं—द्यौः, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, विश्वेदेवा, पञ्चजना, जात और जनित्व।

भाष्यम्

अथ वेदभाष्ये ये सङ्केताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्श्यन्ते। ऋग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां, षट्शास्त्राणां, षडङ्गानां, चतुर्णां ब्राह्मणानां, तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते सङ्केता विज्ञेयाः। ऋग्वेदस्य ऋ०, मण्डलस्य प्रथमाङ्को, द्वितीयः सूक्तस्य, तृतीयो मन्त्रस्य विज्ञेयः। तद्यथा—ऋ० १।१।१॥ यजुर्वेदस्य य०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। तद्यथा य० १।१॥ सामवेदस्य साम०, पूर्वार्चिकस्य पू०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो दशते,स्तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—साम० पू० १।१।१॥ पूर्वार्चिकस्यायं नियमः। उत्तरार्चिकस्य खलु साम० उ, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो मन्त्रस्य। अत्रायं विशेषोस्ति। उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति, परन्त्वर्द्धप्रपाठके मन्त्रसंख्या पूर्णा भवति। तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको, द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि सङ्केत उत्तरार्चिके ज्ञेयः। तद्यथा—साम० उ० १।पू० १॥ साम० उ० १।उ० १। अत्र द्वौ सङ्केतो भविष्यतः। उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं, प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः, पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन मन्त्रसंख्या ज्ञेया। पुनर्द्वितीये सङ्केते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः, प्रथमः प्रपाठकः, द्वितीयाङ्केन तदेव। अथर्ववेदे। अथर्व०, प्रथमांकः काण्डस्य, द्वितीयो वर्गस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—अथर्व० १।१।१॥

भाषार्थ

अब वेदभाष्य में चारों वेदों के जहां जहां प्रमाण लिखे जावेंगे उन के संकेत दिखलाते हैं। देखो ऋग्वेद का जहां प्रमाण लिखेंगे वह ऋग्वेद का ऋ० और मण्डल १ सूक्त १। मन्त्र १। इन का पहिला दूसरा तीसरा क्रम से संकेत जानना चाहिये, जैसे ऋ० १।१।१। इसी प्रकार यजुर्वेद का य०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा मन्त्र का जान लेना। जैसे य० १।१। सामवेद का नियम यह है कि साम०, पूर्वार्चिक का पू०, पहिला प्रपाठक का, दूसरा दशति का और तीसरा मन्त्र का जानना चाहिये, जैसे साम० पू० १।१।१। यह नियम पूर्वार्चिक में है। उत्तरार्चिक में प्रपाठकों के भी पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध होते हैं, अर्द्धप्रपाठकपर्य्यन्त मन्त्रसंख्या चलती है। इसलिये प्रपाठक के अङ्क के आगे पू० वा उ० धरा जायगा। उस पू० से

पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ० से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा। इस प्रकार उत्तरार्चिक में दो संकेत होंगे। साम० उ० १। पू० १॥ साम० उ० १। उ० १॥ इसी प्रकार अथर्ववेद में अथर्व०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा वर्ग का, तीसरा मन्त्र का जान लेना, जैसे अथर्व० १। १। १॥

भाष्यम्

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ०, प्रथमांकः पञ्चिकायाः, द्वितीयः कण्डिकायाः। तद्यथा—ऐ० १। १॥ शतपथब्राह्मणे श०, प्रथमाङ्कः काण्डस्य, द्वितीयः प्रपाठकस्य, तृतीयो ब्राह्मणस्य, चतुर्थः कण्डिकायाः। तद्यथा—श० १। १। १। १॥ एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति, तेषां मध्याद्यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य सङ्केतस्तत्रैव करिष्यते। तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं तस्य छां०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयः खण्डस्य, तृतीयो मन्त्रस्य। तद्यथा—छां० १। १। १॥ एवं गोपथब्राह्मणस्य गो०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयो ब्राह्मणस्य। यथा—गो० १। १॥ एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम्। तस्य मी०, प्रथमाङ्कोध्यायस्य द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—मी० १। १। १॥ द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं तस्य वै०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीय आह्निकस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा—वै० १। १। १॥ तृतीयं न्यायशास्त्रं तस्य न्या०, अन्यद्वैशेषिकवत्। चतुर्थं योगशास्त्रं तस्य यो०, प्रथमाङ्कः पादस्य, द्वितीयः सूत्रस्य। यो० १। १॥ पंचमं सांख्यशास्त्रं तस्य सां०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः सूत्रस्य। सां० १। १॥ षष्ठं वेदान्तशास्त्रमुत्तरमीमांसाख्यं तस्य वे०, प्रथमाङ्कोध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। वे० १। १। १॥ तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणं, तत्राष्टाध्यायी तस्या अ०, प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः पादस्य, तृतीयः सूत्रस्य। तद्यथा अ० १। १। १॥ एतेनैव कृतेन सूत्रसङ्केतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य सङ्केतो विज्ञेयः। यस्य सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसङ्केतो धरिष्यते। तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य, द्वितीयः खण्डस्य। निघण्टौ १। १॥ निरुक्ते १। १॥ खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ। तथा तैत्तिरीयारण्यके तै०, प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य, द्वितीयोऽनुवाकस्य। तै० १। १॥ इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रन्थेषु दर्शनार्थं सङ्केताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैरङ्कैस्तेषु

ग्रन्थेषु लिखितसङ्केतेन द्रष्टव्यम् । यत्रोक्तेभ्यो ग्रन्थेभ्यो भिन्नानां ग्रन्थानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव सङ्केतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम् ।

भाषार्थ

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रथम ऐतरेयब्राह्मण का ऐ०, पहिला अङ्क पञ्चिका का, दूसरा कण्डिका का । ऐ० १ । १ ॥ शतपथ ब्राह्मण का श०, पहिला अङ्क काण्ड का, दूसरा प्रपाठक का, तीसरा ब्राह्मण का, चौथा कण्डिका का । श० १ । १ । १ । १ ॥ सामब्राह्मण बहुत हैं उन में से जिस जिस का प्रमाण जहां २ लिखेंगे उस उस का ठिकाना वहां धर देंगे । जैसे एक छान्दोग्य कहाता है उसका छां०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा खण्ड का, तीसरा मन्त्र का । जैसे छा० १ । १ । १ ॥ चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है उसका गो०, पहिला अङ्क प्रपाठक का, दूसरा ब्राह्मण का । जैसे गो० १ । १ ॥ इस प्रकार का संकेत चारों ब्राह्मणों में जानना होगा । ऐसे ही छः शास्त्रों में प्रथम मीमांसा शास्त्र उसका मी० अध्याय पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो । जैसे मी० १ । १ । १ ॥ दूसरा वैशेषिक का वै०, पहिला अङ्क अध्याय का, दूसरा आह्निक का, तीसरा सूत्र का । जैसे वै० १ । १ । १ ॥ तीसरे न्यायशास्त्र का न्या० और तीन अङ्क वैशेषिक के समान जानो । चौथे योगशास्त्र का यो०, प्रथम अङ्क पाद का, दूसरा सूत्र का । यो० १ । १ ॥ पांचवें सांख्यशास्त्र का सां०, अध्याय और सूत्र के दो अङ्क क्रम से जानो । जैसे सां० १ । १ ॥ छठे वेदान्त का वे०, अध्याय, पाद और सूत्र के तीन अङ्क क्रम से वे० १ । १ । १ ॥ तथा अङ्कों में अष्टाध्यायी व्याकरण का अङ्क अध्याय, पाद, सूत्र के तीन अङ्क क्रम से जानो । जैसे अ० १ । १ । १ ॥ इसी प्रकार जिस सूत्र के ऊपर महाभाष्य हुआ करेगा उस सूत्र का पता लिख के महाभाष्य का वचन लिखा करेंगे उसी से उसका पता जान लेना चाहिये । तथा निघण्टु और निरुक्त में दो दो अङ्क अध्याय और खण्ड के लिखेंगे । तथा तैत्तिरीय आरण्यक में तै० लिख के प्रपाठक और अनुवाक के दो अङ्क लिखेंगे । ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि वारंवार ठिकाना न लिखना पड़े, थोड़े से ही काम चला जाय, जिस किसी को देखना पड़े वह उन ग्रन्थों में देख ले और जिन ग्रन्थों के संकेत यहां नहीं लिखे उनके प्रमाणों का जहां कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायगा । परन्तु इन सब ग्रन्थों के संकेतों को याद रखना सब को योग्य है कि जिससे देखने में परिश्रम न पड़े ।

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः ।
संक्षेपाद्भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ॥
सम्पूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मन्त्रभाष्यं मयातः ।
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥ १ ॥
मन्त्रार्थभूमिका ह्यत्र मन्त्रस्तस्य पदानि च ।
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद्बोध्या विचक्षणैः ॥ २ ॥

यह भूमिका जो वेदों के प्रयोजन अर्थात् वेद किसलिये और किसने बनाये, उन में क्या क्या विषय हैं इत्यादि बातों की अच्छी प्रकार प्राप्ति कराने वाली है। इस को जो लोग ठीक ठीक परिश्रम से पढ़ें और विचारेंगे उन का व्यवहार और परमार्थ का प्रकाश, संसार में मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी। इस प्रकार जो निर्मल विषयों के विधान का कोष अर्थात् खज़ाना और सत्यशास्त्रों के प्रमाणों से युक्त जो भूमिका है इसको मैंने संक्षेप से पूर्ण किया। अब इस के आगे जो उत्तम बुद्धि देने वाली परमात्मा की भक्ति में अपनी बुद्धि को दृढ़ करके प्रीति के बढ़ाने वाले मन्त्रभाष्य का प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं ॥ १ ॥

इस मन्त्रभाष्य में इस प्रकार का क्रम रहेगा कि प्रथम तो मन्त्र में परमेश्वर ने जिस बात का प्रकाश किया है फिर मूल मन्त्र। उसका पदच्छेद। क्रम से प्रमाण-सहित मन्त्र के पदों का अर्थ। अन्वय अर्थात् पदों की सम्बन्धपूर्वक योजना और छठा भावार्थ अर्थात् मन्त्र का जो मुख्य प्रयोजन है इस क्रम से मन्त्रभाष्य बनाया जाता है ॥ २ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिता संस्कृतभाषार्य्यभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तऋग्वेदादिचतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत् ॥